तृतीय अध्याय

उपास्यतत्व एवं भक्ति के अन्य उपादान

उपास्य तत्व एवं भक्ति के अन्य उपादान

जैन भक्ति की धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि' शीर्षक अध्याय में परमात्म तत्व का स्वरूप संक्षेप में निर्दिष्ट किया गया है। अर्हत्, सिद्ध, जिन, तीर्थंकर और जीव या चेतन तत्व में आत्मतत्व की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। कर्म बद्ध स्थिति में जीव का वास्तविक स्वरूप अप्रकट रहता है। चार घातिया कर्म नष्ट होने पर अर्हत् अवस्था में जीव के दर्शन, ज्ञान, चरित्र और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। सिद्ध कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त स्थिति है। प्रत्येक अर्हत्, जिन या तीर्थंकर अन्ततः इस मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। यही परमात्म तत्व है। आप्त, देव, भगवत्, नाथ, परब्रह्म, परमेष्ठी आदि अभिधान इसी परमात्म तत्व के हैं। संसारी कर्मबद्ध जीव अपने इसी परमात्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिए इसी परमात्म स्वरूप की उपासना करता है। वह कभी अर्हद्भक्ति के रूप में, कभी सिद्धभक्ति के रूप में, कभी तीर्थंकर भक्ति के रूप में, कभी सम्यग्दर्शन, ज्ञान या चरित्र भक्ति के रूप में इसी स्वरूप की आराधना करता है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों में इस परमात्म-तत्व का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। विभिन्न भक्तियों के माध्यम से इसका स्वरूप और अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है। हिन्दी के जैन कवियों ने अपने पद साहित्य में पूर्वाचार्यों की तरह ही इस परमात्म तत्व की भक्ति को अंकित किया है।

उपर्युक्त अवधारणा में भक्ति के उपादानों के विकास के लिए पर्याप्त गुंजायश है।

परमात्म-तत्व के विविध अभिधानों के आधार पर अर्हत्, जिन, तीर्थंकर, सिद्ध भक्तियां रची गयी हैं। स्वरूपगत वैशिष्ट्य की अभिव्यंजना और स्वरूप को प्राप्त करने के मार्ग के रूप में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की भक्तियां निबद्ध हुईं। अर्हत्, जिन या तीर्थंकर के उपदेश की महत्ता को स्थापित करते हुए जिनवाणी, श्रुत या आगम की भक्ति की गयी।

जिनोपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करने वाले तपस्वी, मुनि, योगी की आराधना में आचार्य और योगि भक्तियों की रचना हुई । इन महापुरुषों से सम्बद्ध स्थान तीर्थ के रूप में अभिहित हुए और तीर्थ भक्ति या निर्वाण भक्ति के रूप में उन्हें भक्ति का उपादान बनाया गया । परमात्मतत्व की साकार उपासना ने जिन चैत्य की भक्ति को आधार दिया और कालान्तर में उसके साथ `देवता तत्व` को भी सम्मिलित कर लिया गया ।

इस प्रकार भक्ति के उपादानों में कालक्रम से अनेक नये उपादान संगृहीत होते गये । इनकी भक्ति, आराधना, उपासना में प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश वाङ्मय में प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है । प्राकृत और संस्कृत में स्वतन्त्र रूप से भी भक्तियां लिखी गयीं ।

प्राकृत में प्राप्त द्वादश भक्तियां आचार्य कुन्दकुन्द कृत मानी जाती हैं और संस्कृत भक्तियां पूज्यपाद कृत । बाद के अपभ्रंश और हिन्दी कवियों को यह भक्ति साहित्य प्रेरणास्रोत और आधार सिद्ध हुआ ।

प्राकृत और संस्कृत में प्राप्त द्वादश भक्तियां ये हैं[१] --

१- सिद्ध भक्ति,	२- श्रुत भक्ति	३- चारित्र भक्ति
४- योगि भक्ति	५- आचार्य भक्ति	६- पंचगुरु भक्ति
७- तीर्थंकर भक्ति	८- शान्ति भक्ति	९- समाधि भक्ति
१०-निर्वाण भक्ति	११- नन्दीश्वर भक्ति	१२- चैत्य भक्ति

भक्तियों के इस प्रकार के वर्गीकरण का क्या प्रयोजन रहा और क्या आधार माना गया, यह इन भक्तियों में कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है । उपास्य तत्व के आधार पर उपर्युक्त वर्गीकरण को अधिक सीमित करने की दृष्टि से निम्न-लिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है --

१- परमात्म तत्व

इसके अन्तर्गत अर्हन्त, सिद्ध, जिन, तीर्थंकर तथा शुद्धात्म-तत्व को लिया

१- द्रष्टव्य: १- भक्तिसंग्रही, कुन्दकुन्द भारती के अन्तर्गत ।
२- दशभक्त्यादिसंग्रह, सलाल, १९८१

जा सकता है। इनकी एक समन्वित संज्ञा परमात्मतत्व या देवतत्व दी जा सकती है। परमात्म-तत्व के आधार पर अन्य भारतीय परम्पराओं में सगुण और निर्गुण उपासना की जो धाराएं प्रवाहित हुईं, उनका अध्ययन भी इसी सन्दर्भ में किया जाना चाहिए।

२- श्रुत, आगम, जिनवाणी या वाग्देवता तत्व

अर्हन्त, जिन या तीर्थंकरों के उपदेशों को श्रुत, आगम या जिनवाणी के नाम से अभिहित किया गया है। उपासना के क्षेत्र में जिनवाणी को भी जिन के समान ही महत्व प्रदान करने के लिए सम्यग्दर्शन में आगम का श्रद्धान अनिवार्य माना गया। समन्तभद्र ने `शास्त्रं कापथघट्टनम्` कह कर उसका महत्व स्थापित किया है। शास्त्ररूपी अंश के बिना व्यक्ति अन्ध ही है। इस श्रुत, आगम या जिनवाणी को `वाग्देवता तत्व` के रूप में भक्ति का उपादान माना जाना उपयुक्त होगा।

३- गुरु या आचार्य तत्व

वैसे तो जैन परम्परा में अर्हन्त और सिद्ध को भी गुरु ही माना है, क्योंकि वास्तविक परमात्मतत्व तो स्वात्मा ही है, तथापि अर्हन्त और सिद्ध को जब देवतत्व के अन्तर्गत ग्रहण कर लिया तो पंच परमेष्ठी में से शेष आचार्य, उपाध्याय और साधु की गुरु संज्ञा कही जा सकती है। साधु संघ की दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पृथक् पृथक् अभिधान हैं, किन्तु गुरु तत्व की दृष्टि से तीनों में कोई भिन्नता नहीं है। इसलिए समन्तभद्र ने जब सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में गुरु को परिभाषित किया तो यही कहा कि जो विषयों की आशा से ऊपर उठ चुका है, आरम्भरहित है, अपरिग्रही है और ज्ञान, ध्यान तथा तप में रत है, वही प्रशस्त तपस्वी है।

जीव और जात के भेद विज्ञान की ज्योति को प्रज्ज्वलित करे, यही गुरु का गुरुतत्व है। भक्ति की दृष्टि से यही `गुरुतत्व` है। य चारित्र, योगी, आचार्य, पंचगुरु तथा समाधि भक्ति को इसी के अन्तर्गत परिगृहीत किया जाना उपयुक्त होगा।

देव, शास्त्र और गुरु का श्रद्धान जिस तरह सम्यग्दर्शन का कारण बताया गया है, उसी तरह इसे तीनों को भक्तितत्व माना जाना चाहिए ।

तीर्थंकरत्व की अवधारणा तथा मूर्ति शिल्प के विकास के साथ तीर्थंकर के साथ यक्ष-यक्षी, शासन देवता, चैत्य, चैत्यमूढ़ा, चैत्यगृह, कल्याणक भूमियां, सिद्धक्षेत्र, अतिशय क्षेत्र आदि की भक्ति का जो विकास हुआ, उसे भी उपासना के अन्य विविध उपादानों के रूप में देखा जाना चाहिए ।

भक्ति तत्व के सन्दर्भ में एक और महत्वपूर्ण बात यह विचारणीय है कि क्या 'धर्म' को स्वतन्त्र रूप से भक्ति तत्व में परिगणित किया जाये । चतु:शरण में अर्हन्त , सिद्ध और साधु के साथ धर्म की भी गणना की जाती है --

अरहंते सरणं पव्वज्जामि ।
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि ।
साहू सरणं पव्वज्जामि ।
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि श्रुत, आगम या जिनवाणी से जो अभिप्रेत है,वही केवलीप्रणीत धर्म है । समन्तभद्र कहते हैं कि आगम वह है जो आप्तोपज्ञ है -- आप्त के द्वारा दृष्ट है, अनुलंघ्य है, प्रत्यक्ष और युक्ति से बाधित नहीं होता और तत्वों का उपदेष्टा है ।

धर्म को भी उन्होंने बहुत ही सुलझता के साथ परिभाषित किया है । वे कहते हैं कि धर्म कोई अलग वस्तु नहीं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ही धर्म है --'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा: विदु:' ।[२]

इस तरह विचार करने पर भक्ति के उपास्य-तत्व की दृष्टि से मूल तत्व देव, शास्त्र, व गुरु ही मानना चाहिए । आगे के पृष्ठों में क्रमश: इनका तथा अन्य उपादानों का विवेचन करेंगे ।

२- रत्नकर०, श्लोक ३

देव या परमात्म-तत्व

ऊपर कहा गया है कि सिद्ध, अरहन्त, तीर्थंकर, जिन और शुद्ध आत्मा में स्वरूपात भिन्नता नहीं है। यहां उनका संक्षेप में विवेचन करेंगे।

सिद्ध

कुन्दकुन्द ने लिखा है, 'आठ कर्मों से रहित, आठ गुणों से युक्त, परिसमाप्त कार्य और मोक्ष में विराजमान सिद्धों की मैं वन्दना करता हूं[३]। आठ कर्मों का नाश किये बिना कोई भी सिद्ध पद नहीं पा सकता। पूज्यपाद का कथन है कि आठ कर्मों के नाश से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उसे ही सिद्धि कहते हैं और ऐसी सिद्धि करने वाला ही सिद्ध कहलाता है[४]। पं० आशाधर ने सिद्ध की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है, "सिद्धि: स्वात्मोपलब्धि: संजाता यस्येति सिद्ध:"[५]। अर्थात् स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि जिसको प्राप्त हो गयी है, वही सिद्ध है। कुन्दकुन्द का 'परिसमाप्तकार्य' इसी स्वात्मोपलब्धिरूप कार्य को पूरा करने की बात कहता है।

जोइन्दु ने अपने अपभ्रंश ग्रन्थ परमप्पयासु में शुक्ल ध्यान से अष्टकर्मों का नाश करके मोक्ष पद पाने वाले को सिद्ध कहा है[६]। उन्होंने शुद्ध स्वात्मा और मोक्ष में स्थित रहने वाले सिद्ध में यत्किंचित भी भेद नहीं माना[७]। अत: वे भी स्वात्मोपलब्धि और सिद्धि को एक ही स्वीकार करते हैं।

३- अट्ठविहकम्मवियडा अट्ठगुणड्ढा कयावसा सिद्धा।
अट्ठमपुढविणिविट्ठा णिट्ठियकज्जा य वंदामो णिच्चं ।।--सिद्धभक्ति, गा० १

४- वही, श्लोक १।

५- जिनसहस्रनाम, पृ० १३६

६- णाणें कम्म-कलंक करिवि सुक्कट झोड झणंतु।
जिणवरदेवहं सोजि जिय पभणिउ सिद्ध महंतु ।।-- परमप्पयासु, २।२०१

७- वही, १।२५

८- वही, १।२५

सिद्ध निराकार होते हैं। जोइन्दु ने उन्हें `निक्कल` कहा है। निक्कल की व्याख्या करते हुए प्रभाचंद्र ने `निष्कलः पंचविधशरीररहितः` लिखा है।[८]

तत्वसारटीका में सिद्ध को अशरीरी कहा है। किन्तु उसी में सिद्ध के लिए `साकार` और `निराकार` दोनों विशेषणों का प्रयोग हुआ है।[९] यहां साकार का अर्थ है -- अनन्त गुणों से युक्त और निराकार से तात्पर्य है स्पर्श, गन्ध, वर्ण और रस से रहित। आचार्यों ने सिद्ध के अनन्त गुणों को सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध नाम के आठ भागों में बांट दिया है।[१०]

सिद्ध जीव लोकाग्रशिखर के ऊपर रहते हैं। उसी को किसी ने मोक्ष, किसी ने सिद्धशिला और किसी ने सिद्धपुरी कहा है। कुन्दकुन्द ने उसको `लोयग्ग-णिवासिणो`[११], जोइन्दु ने `णिव्वाणि वसंति`[१२], नेमिचन्द्र ने `लोयसिहरत्थो`[१३], सोमदेव ने `लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः`[१४] और मुनि रामसिंह ने `सिद्धमहापुरिजाइमह` कहा है[१५]। सिद्ध जीवअपने संसार के अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून हो कर वहां ठहरते हैं।[१६]

९- असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य णाणे य।
सायारमणायारो लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ।।-- तत्वसार, दोहा ७२

१०-समत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वाबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ।।--सिद्धभक्ति, पृ० ६६

११- अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ।।-- वही, पृ० ६७

१२- ते पुरा वंदउं सिद्धगण जे णिव्वाणि वसंति ।--परमात्मप्रकाश, १।४

१३- पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ।--द्रव्यसंग्रह, गा० ५१

१४- कृत्वा सत्योपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये ।
ते सिद्धाः सन्तुलोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धयेवः ।।--यशस्तिलक

१५- एक्क अप्पा झाइयइ अविचलचित्तु धरेवि ।
सिद्धिमहापुरि जाइयइ अट्ठवि कम्म हणेवि ।।--पाहुडदोहा, दो० १६

१६- सिद्धभक्ति, श्लो० ६

सिद्ध जीवों को जो सुख मिलता है,वह तो अनिर्वचनीय है। इसी को कुन्दकुन्द ने अतिशय, अव्याबाध, अनन्त, अनुपम, इन्द्रियविषयातीत, अप्राप्त और अच्यवन कहा है[१७]। सिद्धों का सुख शाश्वत होता है, क्षणिक नहीं। जोइन्दु ने उसको `सासय-सुक्खसहाउ` लिखा है[१८]। सिद्धों का तो स्वभाव ही परमानन्द रूप है, फिर सुख शाश्वत क्यों नहीं होगा[१९]। दुःखों के कारणभूत संसार के नष्ट हो जाने से वह सुख इतना अधिक होता है कि कोई उसको नाप नहीं सकता। आचार्य पूज्यपाद ने उसको अतिशयवत्, वीतबाध, विशालक, वृद्धिह्रासव्यपेत, विषयविरहित, अन्य-द्रव्यानपेक्ष, निरुपम, अमित, शाश्वत, उत्कृष्ट, अनन्तसार और परम कहा है। इस में `अन्यद्रव्यानपेक्ष` का अर्थ है कि सिद्ध-सुख स्वसापेक्ष है, उसमें बाह्य-पदार्थों की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती[२०]।

कुन्दकुन्द ने लिखा है कि सिद्धों की भक्ति से परम शुद्ध सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है[२१]। केवल ज्ञान ही नहीं अपितु भक्त को वह सुख भी मिलता है, जो सिद्धों के अतिरिक्त अन्य को उपलब्ध नहीं है[२२]।

पूज्यपाद ने लिखा है कि सिद्धों की वन्दना करने वाला उनके अनन्त गुणों को सहज ही में पा लेता है[२३]। सिद्धों का भक्त, भक्ति मात्र से ही उस पद को भी प्राप्त करता है, जिस पर वे स्वयं प्रतिष्ठित हैं[२४]।

१७- सिद्धभक्ति, पृ० ५६

१८- परमप्पपयासु, २।२०२

१९- णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ।।-- वही, १।१७

२०-सिद्धभक्ति, श्लो० ६-८

२१- वरमरणजम्मरहिया ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स।
देंतु वरणाणलाहं दुक्खणपरिपत्थणं परमसुद्धं ।।--सिद्धभक्ति, गा० ११

२२- अइभत्तिसंपउत्तो जो वंदइ लहु लहइ परमसुहं ।।-- वही, गा० १२

२३- तान्सर्वान्नौम्यनन्तान्निजिमिणरहं तत्स्वरूपं त्रिसन्ध्यम्।।--सिद्धभक्ति,पद्य ६

२४- अतिभक्तिसंप्रयुक्तो यो वन्दते स लघु लभते परमसुखम् ।।--वही,अन्तिम पद्य ।

योइन्दु ने उन सिद्धों को नमस्कार किया है, जो परम समाधि को धारण करने वाले, कल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय हैं[२५]। यद्यपि वे तीनों लोकों में गुरु (भारी) हैं, फिर भी संसार-समुद्र में डूबते नहीं[२६]। यह आश्चर्य है, क्योंकि भारी वस्तु जल्दी डूब जाती है। इसका अर्थ है कि सिद्ध, गुरु अर्थात् सबसे बड़े हैं, संसार समुद्र को पार करके ही वे मोक्ष में विराजे हैं।

श्री शान्तिसूरि ने `चेइयवंदणमहाभास` में, सिद्धों को सिर झुकाना सर्वोत्तम भाव-नमस्कार माना है[२७]। सोमदेव का कथन है कि सिद्धों की भक्ति से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन प्रकार के रत्न उपलब्ध होते हैं[२८]।

तीर्थंकर। अर्हन्त

तीर्थंकर भक्ति में कुन्दकुन्द ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले को तीर्थंकर कहा है --`धम्मं तित्थंकरे`। उन्होंने तीर्थंकर को `जिन`, `केवली` और `अर्हन्त` नाम से भी अभिहित किया है।

तीर्थंकर भक्ति के आरम्भ में कुन्दकुन्द ने लिखा है कि मैं उन तीर्थंकरों की स्तुति करूंगा, जो कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वालों में श्रेष्ठ हैं, केवलज्ञान से युक्त हैं, अनन्त संसार को जीतने वाले हैं, लोकश्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि जिनकी पूजा करते हैं, जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण रजरूपी मल को दूर कर दिया है तथा जो महाप्राज्ञ हैं। आगे लिखा है -- लोक को प्रकाशित करने वाले तथा धर्मरूप जैन तीर्थ के कर्ता जिनों

२५- ते वंदउं सिरि-सिद्ध-गण होसहिं जे वि अणंत।
सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत ।।--परमप्पयासु १।२

२६- णाणिं तिहुयणि गरुया वि मलसायहि ण पडंति ।।-- वही, १।४

२७- णणु सिद्धमेव भावत्तो, ऐसो सव्वोत्तमो नमोक्कारो।
आणाइ-पालणत्थं भावनमोक्कारकरणं ति ।।--चेइयवंदणमहाभासं, गा० ७५१

२८- कालेऽत्र त्रिदशा मुक्ति संगमसुखा स्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपैस्ते रत्नत्रयमंडलानि दधतां मय्येव रत्नाकराः ।। -- उपासका०

की मैं वन्दना करता हूं। अरहंत पद को प्राप्त चौबीस तीर्थंकरों का कीर्तन करूंगा।[२९]

इसके बाद चौबीस तीर्थंकरों के नामोल्लेख पूर्वक कहा है कि इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुत चौबीस जिनवर तीर्थंकर मेरे ऊपर प्रसन्न हों।[३०]

पंचगुरु भक्ति में अरहंत की स्तुति करते हुए कुन्दकुन्द ने लिखा है कि मनुजेन्द्र, नागेन्द्र तथा सुरेन्द्र जिन पर तीन छत्र धारण करते हैं, जो पंच कल्याणकों के सुख समूह को प्राप्त हैं, वे जिनेन्द्र हमारे लिए उत्कृष्ट मंगल स्वरूप अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और उत्कृष्ट ध्यान को दें।[३१]

कुन्दकुन्द ने तीर्थंकर की निम्नांकित सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया है--[३२]

१) पंच महाकल्लाणसंपण्णाणं। -- पांच महाकल्याणक सम्पन्न।

२) अट्ठ महापाडिहेरसहियाणं। -- अष्ट महाप्रातिहार्य सहित।

३) चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं। -- चौंतीस अतिशय विशेष संयुक्त।

४) बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहियाणं। -- बत्तीस देवेन्द्रों के मणिमुकुटयुक्त मस्तकों से पूजित।

५) बलदेववासुदेवचक्कहरिरिसिमुणि जइ अणगारोवगूढाणं थुइ सयस्स णिलयाणं। -- बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ति, ऋषि, मुनि, यति, अनगारों से परिवृत स्तुतियों के निलय।

२९- थोस्सामि हंजिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे॥
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो॥-- तीर्थंकर भक्ति, गा० १-२

३०- एवं मए अभित्थुया विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु॥-- वही, गा० ६

३१- पंचगुरुभक्ति, गा० १

३२- वही, अंचलिका।

तीर्थंकर की अवधारणा का जो विवरण प्राप्त होता है उसके अनुसार तीर्थंकरत्व मानवीय गुणों के चरम विकास की उस अवस्था का नाम है जो अनेक जन्मों की साधना के फलस्वरूप प्राप्त होती है। तीर्थंकर की विशेषताओं का आकलन साहित्य में प्राप्त होता है वे इस प्रकार है --

१) कर्मसिद्धान्त के अनुसार तीर्थंकरत्व सर्वोत्कृष्ट पुण्य कर्म प्रकृति है। णायाधम्मकहाओ नामक अर्धमागधी आगम में बीस बोलों की साधना तथा तत्वार्थ-सूत्रकार ने सोलह कारण भावनाओं को तीर्थंकरत्व का कारण बताया है।

२) जिस जीव के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है वह स्वर्ग में दीर्घकाल तक सुख भोगने के बाद मनुष्य जन्म ग्रहण करता है। गर्भ में आने के पूर्व तीर्थंकर की माता शुभ स्वप्न देखती है। जन्म होने पर इन्द्र जन्मोत्सव मनाता है और तीर्थंकर बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक करता है। संसार से विरक्त हो कर तीर्थंकर तपस्या करते हैं जिससे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है। वे सर्वज्ञ और सर्व-दर्शी हो जाते हैं तथा समवशरण सभाओंमें उनके दिव्य उपदेश होते हैं जिन्हें `दिव्य-ध्वनि` कहा जाता है। आयु के अन्त में उनका `निर्वाण` होता है। वे मोक्ष प्राप्त करते हैं। गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष की विशेष घटनाओं को `पंच कल्याणक` कहा गया है।

विगत चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त वर्तमान में विदेह क्षेत्र में बीस तीर्थंकर विद्यमान हैं तथा भविष्य में चौबीस तीर्थंकर होंगे। यह क्रम अनादिकाल से चला रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा।

यतिवृषभ ने अरहन्त को चार सघन घातिया कर्मों का नाश करने वाले, तीनों लोकों के भव्यजीव रूप कमलों के लिए सूर्य सदृश, अनन्तज्ञान तथा सुख रूप वीर्य सम्पन्न कहा है।[३३]

३३- चदुघाइकम्ममहणा तिहुवणवरभव्वकमलमरंता।
अरिहा अणंतणाणी अहियम वीरिया जयंतु जए ।।--तिलोयपण्णत्ति, भाग १, गाथा

जोइन्दु ने अरहंत को केवल दर्शन तथा केवलज्ञान मय और केवलसुख स्वभाव युक्त कह कर सकल पदार्थों को प्रकाशित करने वाला बताया है और भक्तिपूर्वक वन्दना की है।[३४]

आगे लिखा है कि चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर आत्मा अरहंत हो जाता है --

"कम्म चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुअ अरहंतु।"[३५]

केवलज्ञान से अनवरत लोकालोक को जानता हुआ परम आनन्द मय आत्मा अरहंत हो जाता है।[३६]

जोइन्दु ने आगे लिखा है कि जो जिन है, केवलज्ञानमय है, परमानन्द स्वभाव है, वही परमात्मा है, सर्वोत्कृष्ट है, वही आत्मा का अपना स्वभाव है।[३७]

उपर्युक्त अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भक्ति या उपासना की दृष्टि से सिद्ध, अरहन्त, तीर्थंकर, जिन, परमात्मा, चेतन इन सभी को सामान्यतया 'परमात्म-तत्व' कहा जा सकता है। जैन दृष्टि से भक्त अपने इसी परमात्म-स्वरूप की उपलब्धि के लिए भक्ति में प्रवृत्त होता है।

परमात्म-तत्व की उपर्युक्त अवधारणाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिद्ध और आत्मा का स्वरूप निराकारोपासना या रहस्यवाद के अनुकूल है। यही कारण है कि सूफी संतों के रहस्यवाद और निर्गुनिया सन्तों की निर्गुणोपासना के प्रारंभिक जैन सन्तों या कवियों ने भक्ति रचनाएं निबद्ध कीं तो उन्हें प्राकृत,

---

३४- केवल दंसण णाणमय केवलसुक्ख सहाव।
जिणवरवंदउं भत्तियए जेहिं पयासिय भाव ॥-- परमप्पपयासु, १।६

३५- वही, २।१६५

३६- वही, २।१६६

३७- जो जिणु केवलणाणमउ परमाणंद-सहाउ।
सो परमप्पउ परम पर सो जिय अप्प सहाउ ॥-- प० प०, १।१६७

संस्कृत और अपभ्रंश की पूर्ववर्ती परम्परा में सभी तत्व सहज प्राप्त हो गये । चेतन को सम्बोधित करके जैन कवियों ने जो पद लिखे हैं, उनमें आत्मा के इसी `सिद्ध` या `परमात्म` स्वरूप की ओर लक्ष्य है ।

इसी प्रकार तीर्थंकर की जिन विशेषताओं -- पंचकल्याणक, अष्टमहा-प्रातिहार्य, समवसरणसभा -- का वर्णन किया गया है, वह काव्य रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण आधार सिद्ध हुए । इनका आलम्बन लेकर जैन कवियों ने विभिन्न प्रकार के अनेक पदों की रचना की ।

हिन्दी के जैन कवियों के कतिपय पदों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा ।

कवि रूपचन्द तीर्थंकर की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं --

प्रभु तेरी महिमा को पावै ।
पंच कल्यानक समय सचीपति, ताको करन महोछौ आवै ।
तजि साम्राज्य जोगमुद्रा धरि, सिव मारगु को प्रगटि दिखावै ।
बसु दस दोष रहित को इहि विधि, को तेरी सरि औरु बनावै ।
समोसरन सिरि राज विराजति और निरंजनु कोनु कहावै ।
केवल दृष्टि देखि चराचर, तत्व भेद को ज्ञान जनावै ।
को वरनै अनंत गुन गरिमा, को जलनिधि घट मांहि समावै ।
रूपचन्द भव सागर मज्जत, को प्रभु बिन परतीर लगावै ।। [३८]

हे प्रभु! तुम्हारी महिमा को जानना असम्भव है । तुम्हारे पांच कल्याणकों (गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, मोक्ष) के समय इन्द्र स्वयं अपने परिवार सहित आ कर महोत्सव का आयोजन करता है । तुम्हारे समान वैरागी कौन है । तुमने विशाल साम्राज्य को त्याग कर वैराग्य धारण किया । वन में कठोर साधना और तपस्या की तथा

३८- हिन्दी पद संग्रह, पद ३२

शिवमार्ग को प्रत्यक्ष रूप से सबको बताया । तुम्हारे समान अठारह दोषों से रहित और कौन है ? तुम्हारी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती । तुम समवशरण में विराजते हो और जीवों के कल्याण का मार्ग बताते हो तथा निरंजन हो । अपने केवलज्ञान से सम्पूर्ण सृष्टि को देखते हो और तत्वभेद का ज्ञान प्रदान करते हो । तुम्हारे अनन्त गुणों की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है । समुद्र के पानी को घड़े में कैसे रखा जा सकता है । संसार समुद्र में डूबते हुए को तुम्हारे सिवाय कोई भी पार नहीं लगा सकता । रूपचन्द अपने प्रभु के सेवक हैं लेकिन वह प्रभु सामान्य नहीं है उसके गुण अद्भुत तथा अनन्त हैं —

हौं जगदीश को उरगानौ ।
संतत उरग रहौ चरनन की और प्रभुहि न पिछानौ ।
मोह शत्रु जिहि जीत्यौ, तप बल त्रासनि मदन हनानौ ।
ज्ञान राजु निर्कंटकु पायौ, सिवपुरि अविचल थानौं ।
वसु प्रतिहार जु प्रभु लक्षण के मेरे हृदै समानौं ।
अनन्त चतुष्टय श्रीपति चौतिस अतिसय गुन जु खानौं ।
समोसरन ठाढ़ सुर नर मुनि, सोभत समहि सुहानौं ।
धर्म नीति सिव मारगु चाल्यौ, तिहुं भुवन को रानौं ।
दीन दयाल भगत जन वच्छल जिहि प्रभु को यह बानौं ।
रूपचन्द जन होइ दुखी क्यौं मनु इह परम सुखानौं ।। ३६

कवि कहते हैं कि मैं जगदीश का सेवक हूं । मैंसदैव अपने प्रभु के चरणों की सेवा करना चाहता हूं और किसी देवता को मैं नहीं जानता । उस प्रभु ने मोह रूपी शत्रु को जीत लिया तथा अपने कठिन तप द्वारा कामदेव को हरा दिया । निष्कंटक ज्ञान का राज्य प्राप्त किया तथा शिवपुरी में अचल स्थान प्राप्त किया । आठ प्रातिहार्य युक्त प्रभु के गुण मेरे हृदय में समा गये हैं । अनन्त चतुष्टय के धारक तथा चौंतीस अतिशयों से युक्त प्रभु गुणों की खान हैं । ऐसे प्रभु सुर, नर, मुनियों से युक्त समवशरण में शोभित होते हैं । धर्म की नीति तथा शिव मार्गपर चल कर वे तीनों लोकों के राजा बन गये । प्रभु दीनदयाल तथा भक्त-वत्सल हैं । जिसके प्रभु का ऐसा स्वरूप हो वह

दु:खी कैसे रह सकता है ।

रूपचन्द की तरह ही बनारसीदास ने प्रभु को अठारह दोषों से रहित बताते हुए लिखा है —

जगत में सो देवन को देव ।
जासु चरन परसै इन्द्रादिक होय मुकति स्वयमेव ।
जो न क्षुधित न तृषित न भयाकुल, इन्द्री विषय न वेव ।
जनम न होय जरा नहिं व्यापै, मिटी मरन की टेव ।
जाके नहिं विषाद नहिं विस्मय, नहिं आठों मदमेव ।
राग विरोध मोह नहिं जाकें नहिं निद्रा परसेव ।
नहि तन रोग न भ्रम नहिं चिंता, दोष अठारह खेव ।
मिटे सकल जाके ता प्रभु की , करत बनारसी सेव ।।[४०]

जगत में वही सर्वश्रेष्ठ देव है जिसके चरणों में इन्द्र आदि देवता भी प्रणाम करते हैं । मुक्ति स्वयं ही जिसके पास आती है । जिसने क्षुधा तथा तृष्णा पर विजय प्राप्त करली है । जो सब प्रकार के भय से मुक्त तथा विषय भोगों से रहित है । जो जन्म, जरा तथा मृत्यु के दु:ख से सर्वथा मुक्त हो गया है । जिसके किसीप्रकार का विषाद, विस्मय तथा आठ प्रकार के मद नहीं हैं । जो राग-द्वेष तथा मोह से रहित है तथा जिसने निद्रा पर विजय प्राप्त करली है । जो देव सब प्रकार के रोगों, सब प्रकार की चिन्ताओं तथा अठारह दोषोंसे मुक्त है । ऐसे गुणों से सम्पन्न देव की मैं सेवा करता हूं, पूजा करता हूं ।

कवि ऐसे ही सकल पुरुषों की आराधना करने की सलाह देते हैं --

मान कहे आराधो साधो, सकल पुरुष प्रभु इक ऐसा ।
जहां जहां जिस रस सौं राचै, तहां तहां तिस मेसा ।

३६- हिन्दी पद संग्रह, पद ४४
४०- बनारसी विलास, पद १५

सकल प्रधान प्रधान रूप में , संसे में संसेसा ।
धरै चपलता चपल कहावै, ले विधान में तैसा ।
उद्यम करत उद्यमी कहिये, उदय सरूप हुवैसा ।
व्यवहारी व्यवहार करम में, निहचै में निहचैसा ।
पूरण दशा धरै सम्पूरण, नय विचार में तैसा ।
दरवित सदा बसै सुखसागर, भावित उतपति तैसा ।
नाहीं कहत होत नाहींसा , है कहिये तो हैसा ।
एक अनेक रूप है वरता, कहाँ कहां लौं कैसा ।
वह अपार ज्यौं रतन अमोलिक, बुद्धि विवेक ज्यौं ऐसा ।
कल्पित वचन विलास बनारसी वह जैसे का तैसा ।[४१]

हे साधक उस परमात्म तत्व की आराधना करो जो अखंड, अज, अकथनीय तथा निर्विकल्प है । परमात्म तत्व पर्यायों में भिन्न भिन्न प्रकार से परिणमित हो कर उसी रूप का दिखाई देता है । वह अनेक रूपात्मक है,'अस्ति', 'नास्ति' है । सभी अपनी अपनी कल्पना के अनुसार उसे अपने कल्पित रूप में देखते हैं तथा व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं । किन्तु परमात्म तत्व जैसा है वैसा ही रहता है । वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख से युक्त है । अक्षय सुख का सागर है । उस शुद्ध, चैतन्य स्वरूप परमात्म तत्व की आराधना ही श्रेयस्कर है ।

आत्मा और परमात्मा में वास्तव मे कोई स्वरूपात मेद नहीं है । जैन कवि बार-बार इस ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं । यानतराय ने लिखा है --

आतम जानो रे भाई ।
जैसी उज्वल आरसी रे तैसी आतम जोत ।
काया करमनसौं छुटी रे सबको करै उदोत ।
सुपन दशा जागृत दशा रे दोनौं विकलप रूप ।
निरविकलप शुद्धातमा रे चिदानन्द चिद्रूप ।

४१- हिन्दी पद संग्रह, पद ८६

तन वचेती भिन्न कर रे मनसों निज लव लाय ।
आप आप जब अनुभवै रे तहां न मन वच काय ।
इहीं दरव नव तत्वते रे न्यारो आतम राम ।
धानत जे अनुभव करे ते पावैं शिवधाम ।।[४२]

हे भव्य ! तुम आत्मा को जानो । आत्मा की ज्योति साफ चमकते हुए दर्पण की तरह है । वह शरीर और कर्मों से बिलकुल पृथक् है तथा सबको प्रकाशित करती है । सुप्तावस्था और जाग्रत अवस्था दोनों ही विकल्प से युक्त हैं । शुद्धात्मा निर्विकल्प है चिदानन्द तथा चिद्रूप है, शाश्वत है । मन, वच, काय से हट कर उसी में तल्लीन हो जाना चाहिए । जब आत्मा का अनुभव होगा तो मन, वचन, काय स्वयं ही छूट जाएंगे । छहों द्रव्यों और नौ तत्वों से भिन्न आत्मा का स्वरूप है । जो आत्मानुभव कर लेता है वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

द्यानत कहते हैं कि मेरा प्रभु मुझसे भिन्न नहीं है । जो इस बात को जान ले वही वास्तविक ज्ञानी है --

मेरा साहिब तो मोमें नाहीं न्यारा, जानैं सो जानहारा ।
पहले भेद सरधा जिन जानैं अब सुख अपरंपारा ।
अनंत चतुष्टयधारक ज्ञायक गुन परजै द्रव सारा ।
जैसा राजत गंधकुटी में तैसा मुझमें म्हारा ।
हित अनहित मम पर विकलपतैं करम बंध भये भारा ।
ताहि उदय गति गति सुख दुख में भाव किये दुखकारा ।
काल लबधि जिन आगम सेती संशयभरम विदारा ।
द्यानत जान करावन करता हौं ही एक हमारा ।।[४३]

मेरा प्रभु, मेरा आराध्यदेव मुझसे भिन्न नहीं है , वह मुझमें ही निवास करता है । यह ज्ञान प्राप्त होते ही मुझे अपार सुख प्राप्त हुआ । अब तक मैंने

४२- धानत पद संग्रह, पद ५१

४३- द्यानत विलास, पद ५९

अज्ञानता के कारण ही अनेक कष्ट सहे पर अब नहीं सहूंगा । मेरी आत्मा अनन्त चतुष्टय धारक तथा समस्त द्रव्यों को गुण पर्यायों सहित जानने वाली है । गंधकुटी में जैसा परमात्म तत्व शोभित होता है वैसा ही मेरे में भी है । पर के ममत्व के कारण ही अनेक कर्म बन्धन हुए तथा कर्मों के उदय से अनेक गतियों में सुख दुःख का अनुभव किया । यह सब अविवेक के कारण ही हुआ । अब काल-लब्धि के तथा जिन आगम के प्रभाव से मैंने संशय तथा भ्रम को त्याग दिया है तथा आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त किया है । वही आत्मतत्व मेरा अपना है ।

भूधरदास आत्मा के इसी चेतन रूप के प्रति आश्वस्त हो कर कहते हैं --

तुम सुनियो साधो ! मनुवा मेरा ज्ञानी ।
सत गुरु भेंटा संसा मेटा, यह नीकै करि जानी ।
चेतनरूप अनूप हमारा, और उपाधि विरानी ।
पुद्गल मांडा आतम खांडा, यह हिरदै ठहरानी ।
छीजो भीजो कृत्रिम काया, मैं निरभय निरवानी ।
मैं ही देखौं मैं ही जानौं, मेरी होय निशानी ।
शब्द फरस रस गंध न धारौं, ये बातें विज्ञानी ।
जो हम चीन्हां सो थिर कीन्हां, हुए सुदृढ सरधानी ।
भूधर अब कैसें उतरैगा, खड़ग चढ़ा जो पानी ।।[४४]

हे सज्जन पुरुषो ! सुनो मैंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है । सतगुरु की कृपा से मेरा संशय दूर हो गया और मैंने इस बात को अच्छी तरह से जान लिया कि मैं चैतन्यस्वरूप अनूपम हूं । इसके अतिरिक्त अन्य सभी उपाधियां परायी हैं । यह शरीर जड़ है और आत्मा अखण्ड है यह बात मेरे हृदय में अच्छी तरह से दृढ़ हो गयी है । कृत्रिम शरीर ही भीगता है तथा नष्ट होता है । मेरा स्वरूप तो निर्भय, निर्विकल्प है । मैं देखता हूं तथा जानता हूं । यही दर्शन, ज्ञान मेरी निशानी है । मैं शब्द, स्पर्श, रस और गंध से रहित हूं । इस आत्मस्वरूप को मैंने पहचान लिया है । यही

४४- जैन पद संग्रह, पद ५०

स्वरूप मैंने हृदय में स्थित कर लिया है तथा इसी के प्रति मेरी दृढ़ श्रद्धा हो गयी है। अब मेरे हृदय से यह स्वरूप नहीं हट सकता जैसे रङ्ग पर चढ़ाया गया फुलम्बा नहीं उतरता।

'आत्मा सिद्ध के समान है' ऐसा विरले ही मान पाते हैं। पर वास्तविकता यही है। दौलतराम आत्मा के इस स्वरूप की ओर लक्ष्य दिलाते हुए लिखते हैं --

जानत क्यों नहिं रे हे नर आतमज्ञानी।
रागदोष पुद्गल की संपति निहचै शुद्ध निशानी।
आय नरकपशु नरसुरगति में यह परजाय विरानी।
सिद्धसरूप सदा अविनाशी मानत विरले प्रानी।
कियो न काहू करै न कोई गुरु सिख कौन कहानी।
जनम मरन मल रहित विमल है कीच बिना जिमि पानी
सार पदारथ है तिहुं जग में नहिं क्रोधी नहिं मानी।
दौलत सो घटमाहिं विराजे लखि हूजे शिवथानी।।[४५]

आत्मज्ञान के इच्छुक मानव तुम यह बात क्यों नहीं जानते कि राग और द्वेष पुद्गल की सम्पत्ति है। निश्चित रूप से यह पुद्गल की ही निशानी है। यह पर्याय भी नरक, पशु, नर तथा सुरगति में भ्रमण करती है इसलिये यह पर्याय यह शरीर भी पराया है। सिद्धात्मा का स्वरूप सदैव अविनाशी है जिसे कोई बिरला विद्वान ही जानता है। उसका कोई कुछ नहीं करता न उसको कोई छीन सकता है। गुरु और शिष्य यह भेदभाव भी उसमें नहीं है। वह आत्मा जन्म, मरण के मल से रहित बिलकुल पवित्र, शुद्ध है जैसे कीचड़ से रहित शुद्ध जल होता है। वही तीनों लोकों में सार तत्व है वह न क्रोधी है और न मानी। वह आत्मा हृदय में विराजती है, उसके स्वरूप का दर्शन तथा अनुभव करके मोक्ष प्राप्त होता है।

इसीलिए दौलतराम जीव को शरीर का मोह त्यागने की सलाह देते हैं --

छांडि दे या बुद्धि मोरी वृथा तनसे रति जोरी।

४५- दौलत विलास, पद १०८

यह पर है न रहै थिर पोषत सकल कुमकी कोरी ।
यासौं ममता कर अनादितैं बंध्यो कर्म की डोरी । सहै दुख जलधि हिलोरी ।।
यह जड़ है तू चेतन यौं ही अपनावत बरजोरी ।
सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण निधि ये हैं संपत तोरी । सदा विलसौं खिनगोरी ।।
सुखिया भये सदीव जीव जिन यासौं ममता तोरी ।
दौल सीख यह लीजे पीजे ज्ञानपियूष कटोरी । मिटे परवाह कठोरी ।।[४६]

हे जीव ! तुम अपनी मिथ्या धारणा दूर करो और शरीर से व्यर्थ राग न करो । यह शरीर परकीय है । पालन-पोषण होने पर भी स्थिर रहने वाला नहीं है । समस्त प्रकार गंदगी का केन्द्र है । जीव ! तुम इस शरीर से ममत्व रखने के कारण ही अनादिकाल से कर्म-जाल में जकड़े हुए हो और दुःखों को उठा रहे हो । यह शरीर जड़मय है और तू चैतन्यमय है । जब ये दोनों बिलकुल पृथक्-पृथक् वस्तुएं हैं तो तू हठात् इन दोनों का गठबन्धन क्यों करना चाहता है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र -- यह निधियां ही तेरी आत्मीय सम्पत्ति हैं । इसलिए अन्य समस्त प्रकार की सांसारिक माया को छोड़ कर तू इस सम्पत्ति को प्राप्त करने का ही प्रयत्न कर और `खिन-गोरी` के साथ सुख भोग । जिन जीवों ने अपने शरीर से सदा के लिए आसक्ति तोड़ ली है, वे चिरकाल के लिए सुखी हो गये । तू मेरी एक सीख मान । ज्ञान सुधारस का आकण्ठ पान करके अपने को तृप्त कर ले, जिससे तेरी कठोर `पर-चाह` नष्ट हो जाये ।

जगतराम कहते हैं कि आत्मा न तो गोरा है, न काला । उसका स्वरूप तो दर्शन, ज्ञान और चेतना रूप है --

नहिं गोरो नहिं कारो चेतन, अपनो रूप निहारो ।
दर्शन ज्ञान मई चिन्मूरत, सकल करमते न्यारो रे ।
जाके बिन पहिचान जगत में, सह्यो महा दुख भारो रे ।
जाके लखे उदय हो तत्क्षण, केवलज्ञान उजारो रे ।
कमलनित पर्याय पाय के कीनो तहां पसारो रे ।

४६- दौलत विलास, पद ५१

आपापरको रूप न जान्यो, तातैं भव उरझारो रे ।
अब निज में निजहूं अवलोकूं जो ही भव सुलझारो रे ।
`जगतराम` सब विधि सुख सागर पद पाऊं अविकारो रे ।।[४७]

आत्मा न गोरा है न काला है । वह रूप, रस, गंध और वर्ण से रहित है । वह दर्शन ज्ञानमय तथा चिदानन्द स्वरूप है तथा सभी से भिन्न है । समस्त कर्मों से रहित है । आत्मस्वरूप को न जानने के कारण ही अब तक जगत में नाना प्रकार के कष्ट सहे । आत्म-स्वरूप का दर्शन हो जाने से केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । अब तक आत्मस्वरूप को न जानने के परिणामस्वरूप नाना पर्यायों में भ्रमण किया तथा दुःख उठाये । `निज` और `पर` में भेद न जानने के कारण संसार भ्रमण में उलझा रहा । अब मुझे अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो गया है । अब मैं पर पदार्थों से ममत्व त्याग कर भव-भ्रमण से मुक्त हो जाऊंगा । आत्मस्वरूप के चिन्तन के द्वारा मैं अविकारी तथा अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त करूंगा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के जैन कवियों द्वारा लिखित पद साहित्य में पूर्वाचार्यों की तरह ही परमात्म-तत्व का विवेचन किया गया है ।

४७- हिन्दी पद संग्रह, पद १२२

जिनवाणी, श्रुत, आगम या वाग्देवता-तत्व

जिन या तीर्थंकर द्वारा दिये गये उपदेशों को `जिनवाणी` कहा गया है। ये उपदेश गुरु परम्परया संरक्षित होने के कारण `श्रुत` नाम से भी अभिहित होते हैं और `आगम` भी कहे जाते हैं।

सम्यग्दर्शन का विवेचन करते हुए पूर्व में बताया गया है कि देव या आप्त के बाद उसकी वाणी का भी वही महत्व है। यद्यपि जैन परम्परा में `श्रुति` अर्थात् वेदों को प्रमाण नहीं माना गया है तथापि जिनवाणी के लिए उतना ही महत्व दिया गया है, जितना वैदिक परम्परा में श्रुति को।

जिनवाणी की भक्ति में `श्रुत भक्ति` की रचना हुई। श्रुतदेवी, वाग्देवता सरस्वती, शारदा आदि नामों से भी इसे अभिहित किया गया।

श्रुत भक्ति में श्रुत के साथ श्रुतधरों की भी भक्ति की गयी है। तीर्थंकर महावीर ने जो उपदेश दिये, उन्हें उनके गणधर शिष्यों ने द्वादश अंगों में ग्रथित किया था। इस द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता आचार्यों को श्रुतधर कहा गया है। श्रुत की तरह श्रुतधरों की भी आराधना की गयी है।

कुन्दकुन्द ने प्राकृत में निबद्ध श्रुतभक्ति में लिखा है कि अर्हन्त के द्वारा कहे गये और गणधरों के द्वारा गुंथे गये श्रुतज्ञान रूप महोदधि को मैं भक्तियुक्त सिर से प्रणाम करता हूं। उन्होंने समस्त श्रुतांग को जिनवाणी में समाहित किया है।[१]

पुष्पदन्त ने अपने अपभ्रंश महापुराण में `सया पणमामि जिणिंदह वाणि` कह कर जिनवाणी की स्तुति की है। उन्होंने लिखा है कि जो सम्पत्ति और सुख का कारण है, कर्मों को विदारण करने वाली है, संसार समुद्र से पार उतरने के लिए

१- श्रुतभक्ति, गा० १

नौका के समान है तथा स्वर्ग और मोक्ष के संगम का कारण है, उस जिनवाणी को मैं अपनी शक्ति के अनुसार नमस्कार करता हूं।[२] जिसके शब्द जिनेन्द्र के मुख से निकले हैं, जिसे गणधरों ने विविध ग्रन्थों में निबद्ध किया है, जो तीन लोक की मंडन रूप है और जो धर्म की खान है, उस जिनवाणी को मैं सदा प्रणाम करता हूं।[३]

पुष्पदन्त ने जिनवाणी भक्ति के फल का निरूपण करते हुए लिखा है कि जो निर्मलबुद्धि का धारक भव्य प्राणी जिनवाणी को अपने चित्त में धारण करता है, वह इन्द्र और नरेन्द्रों की सम्पत्ति प्राप्त कर और क्रम से केवलज्ञान प्राप्त कर संसार से पार उतर जाता है।[४]

णेमिणाहचरिउ में लिखा है कि अंग, उपांग और प्रकीर्णक भेद से श्रुत-सागर अपार है। कोई पंडित ज्ञानी भी उसको पार करने में समर्थ नहीं है। यह द्वादशांग रूप श्रुतरत्नों से भरे समुद्र के समान है। अतः अत्यधिक सुन्दर है।[५]

पुष्पदन्त (१०वीं शताब्दी विक्रम) ने चौदह पूर्व, बारह अंग, जिनमुख से निकली हुई और सप्तभंगीमय श्रुतदेवी की वन्दना से ही, णायकुमारचरिउ का प्रारम्भ किया है।[६]

२- संपइ-सुह-कारण कम्म-वियारण भव-समुद्द-तारणतरणं।
जिणवाणि णमस्समि सत्ति पयासमि सग्ग-मोक्ख-संगकरणं ।।-महापुराण

३- जिणिंद-मुहाओ विणिग्गयतार गणिंद-विरुंफिय गंथ-पयार।
तिलोयहि मंडण धम्मह खाणि सया पणमामि जिणिंदवखाणि ।।- वही

४- इह जिणवर वाणि विसुद्धमई जो भवियण णिय मण धरई।
सो सुर णरिंद संपइ लहई केवलणाण वि उत्तरई ।। -- वही

५- णेमिणाहचरिउ, सं० १६,२१

६- अट्ठह पुव्वियल दुवालसंगि, जिणवयण विणिग्गयसत्तभंगि।
वायरणविति पायडियणाम, पणिवयउ मयु देवि मणोहिराम ।।--णा०च०,१।६-१०

अमितगति (वि० सं० १०५०) ने सामायिक पाठ में लिखा है, "हे सरस्वती देवी, यदि मैंने मात्रा, पद, वाक्य और अर्थहीन वचन कहे हों, तो आप क्षमा करें और मुझे पूर्ण ज्ञान दें।"[७] उन्होंने यह भी कहा कि श्रुतदेवी अपने भक्तों की सभी मनोकामनाओं को पूरा करती है।[८]

सोमदेव ने श्रुतदेवी की भक्ति को ही सामायिक कहा है। उन्होंने अष्ट द्रव्यों से श्रुतदेवी की पूजा भी की है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि सरस्वती स्याद्वाद रूप है, मुनियों के द्वारा माननीय है, देवों से उपासनीय है। वह देवी अन्तःकरण में स्थित समस्त कलंकों को धो कर शुद्ध बनाती है, और ज्ञान रूपी हाथी के अवगाहन करने के लिए तो वह एक नदी के समान है।[९]

वसुनन्दि ने श्रुतदेवी की मूर्ति की स्थापना की बात कही है। उन्होंने लिखा, "श्रुतज्ञान के बारह अंग और उपांग वाली सम्यग्दर्शन तिलक से विभूषित, चारित्र रूप वस्त्र की धारक और चौदह पूर्व रूप आभरणों से मंडित श्रुतदेवी की मूर्तिस्थापना शुभतिथि और शुभ मुहूर्त में करनी चाहिए।[१०]

श्रेयवन्दणमहाभास के प्रारम्भ में लिखा है, "जिनके महा[illegible] रूपी मुख से, द्वादशांगी महानदी उत्पन्न हुई है, उन गिरि जैसे गणधरों को मैं भावपूर्वक नमस्कार करता हूं।[११]

७-यदर्थमात्रापदवाक्यहीनम्, मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी, सरस्वती केवलबोधलब्धिम्।।--अमितगति, सामायिक-पाठ, श्लोक १०

८- बोधिःसमाधिःपरिणामशुद्धिः,स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिर्चिन्तितवस्तुदाने, त्वां वन्द्यमानस्य ममास्तु देवि।।-वही,श्लो० ११

९- स्याद्वादशुद्धाम्बरधारिणीया मुनिभाननीया सुरैरनन्यशरणैः समुपासनीया।
स्वान्तःस्थिताशेषकलंकहर्त्रीश्रुतापगास्तु मम बोधदायिनी।।-यशस्तिलक,पृ० ४०१

१०-बारहंगंगी जा दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।
चोद्दसपुव्वाहरणा ठावेयव्वा य सुयदेवी।।-- वसुनन्दि श्रावकाचार,गा० ३९१

शुभचन्द्र (१७वीं शताब्दी विक्रम) ने ज्ञानार्णव में लिखा है,"जो श्रुतस्कन्ध-रूपी आकाश में चन्द्र के समान है, संयमश्री को विशेष रूप से धारण करने वाले हैं, ऐसे योगीन्द्र इन्द्रभूति गौतम को, मैं ध्यानसिद्धि के लिए नमस्कार करता हूं।[१२]

द्रव्यात्मा होने के कारण भगवान् जिनेन्द्र भी श्रुतधर कहलाते हैं। पंडित आशाधर ने उन्हें 'श्रुतभृति' और 'श्रुत-पूत' जैसे विशेषणों से सुशोभित किया है। इस का अर्थ है कि भगवान् की दिव्यध्वनि ही वह श्रुत है, जिसके द्वारा भव्य प्राणी मोक्ष जाने में समर्थ हैं।[१३] कुन्थसूरि ने भी भगवान् जिनेन्द्र को ही श्रुतधर माना है। उन्होंने लिखा है,"इस प्रकार मेरे द्वारा संस्तुत किये गये श्रुतप्रवर जिनवरवृषभ, मुझे शीघ्र ही श्रुत लाभ प्रदान करें।"[१४]

श्रुत के दो भेद हैं -- द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। शास्त्रों की गणना द्रव्यश्रुत में की जाती है। जैनाचार्यों ने शास्त्र-पूजन को अचित्तद्रव्य पूजन की कोटि में गिना है।[१५] भूतबलि ने जब षट्खण्डागम की रचना समाप्त की, तब उसे शास्त्र रूप में प्रतिष्ठित किया गया, और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन, चतुर्विध संघ के साथ उसका महान् पूजन

११- जम्बुरुमहदलाओ, दुवालसंगी महाणई हुहा।
तं गणहरकुलसिरिणी, सव्वे वंदामि भावेण ।।-- जयधवला महाधवल, गा० ४

१२- श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्रं संयमश्रीविशेषकम्।
इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये ।।-- ज्ञानार्णव, श्लो० ६

१३- गुर्वी केवलज्ञानसमाना श्रुतिः शास्त्रं यस्येति, श्रुतिशब्देन सर्वज्ञवीतरागध्वनिः, तया श्रुतः पवित्रः सर्वोऽपि भूर्भुवः सर्वज्ञश्रुत्या तीर्थंकरनामगोत्रं बद्ध्वा पवित्रो भूत्वा सर्वज्ञः संजातस्तेन श्रुतिपूत उच्यते। -- जिनसहस्रनाम, ६।१२२, ६।१२१

१४- एवमए थुयपवरा गंभीरयरेण संथुया तच्चा।
सिग्घं मे सुयलाहं जिणवरवसहा पयच्छंतु ।।-- श्रुतभक्ति, गा० ११

१५- वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा ४५०, पृ० १३०

भी हुआ[१६]। भगवान् जिनेन्द्र की मूर्ति के समान ही, शास्त्रोंकी भी प्रतिष्ठा होने लगी थी।[१७]

भावश्रुत को ज्ञान कहते हैं। द्रव्यश्रुत भी ज्ञान है, किन्तु वह शास्त्रीय-अध्ययन तक ही सीमित है। भावश्रुत में परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार के ज्ञान शामिल हैं[१८]। इसी कारण श्रुतभक्ति में पांच ज्ञानों की भी भक्ति की गयी है। भक्ति से ज्ञान प्राप्त होता है। कुन्दकुन्द ने लिखा है कि विनय के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।[१९]

पूज्यपाद ने दूसरों के मन में स्थित अर्थ को जानने वाले मनः पर्ययज्ञान[२०] और त्रिकालवर्ती पदार्थों को एक साथ जानने वाले केवलज्ञान की स्तुति की है[२१]। श्रुत-ज्ञान को नमस्कार करते हुए उन्होंने लिखा है, "जिनेन्द्र भगवान् के कहे गये, गणधरों के द्वारा रचित, अंग और अंग बाह्यसहित, तथा अनन्त पदार्थों को विषय करने वाले श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूं।"[२२] उन्होंने मतिज्ञान और अवधिज्ञान की भी वन्दना की है। उन्हें विश्वास है कि पांच ज्ञानों की स्तुति करने से अविनाशी सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है[२३]। कुन्दकुन्द ने प्राकृत श्रुतभक्ति में श्रुतज्ञान

१६- इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार, पद्य १४३

१७- अहवा जिणागमं पुत्थएसु सव्वं लिहाविऊण तओ।
सुहतिहि-लग्ग-मुहुत्ते आरंभो होइ कायव्वो ।। -- वसुनन्दिश्रावकाचार, गा० ३९२

१८- संस्कृत श्रुतभक्ति, पृ० ७८

१९- दंसणणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भविय जीवो सम्मंजिणभावणासहिओ ।।--भावपाहुड़, गा० १४९

२०- पूज्यपाद, श्रुतभक्ति, श्लो० २८

२१- वही, श्लो० २९

२२- श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितं द्व्यनेकभेदस्थम्।
अंगांगबाह्यभावितमनन्तविषयं नमस्यामि ।।-- वही, श्लो० ४

२३- वही, श्लो० ३०

की स्तुति करते हुए लिखा है `अर्हन्त के द्वारा कहे गये और गणधरों के द्वारा गूंथे गये, ऐसे महासागरप्रमाण श्रुतज्ञान को मैं सिर झुका कर प्रणाम करता हूं।`[२४]

पूज्यपाद ने श्रुत के बारह अंगों की स्तुति की है। उन्होंने बारहवें अंग दृष्टिवाद की भक्ति में लिखा है, `परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका सहित पांच प्रकार के दृष्टिवाद अंग की मैं स्तुति करता हूं।`[२५] कुन्दकुन्द ने प्राकृत श्रुत-भक्ति के आरम्भ में ही सिद्धों को नमस्कार करके श्रुत के सभी अंगों की वन्दना की है।[२६]

हिन्दी के जैन कवियों ने जिनवाणी की भक्ति में अनेक पदों और स्तुतियों की रचना की है जिनसे एक ओर जिनवाणी या वाग्देवता-तत्व का स्वरूप स्पष्ट होता है, दूसरी ओर उसकी महत्ता व्यक्त होती है।

द्यानतराय ने `जिनवाणी` विषयक अनेक पद लिखे हैं। वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह `जिनवाणी` के महत्व को विविध प्रकार से व्यक्त करते हैं। अपने पदों में वे कहते हैं --

जब भगवान् महावीर की वाणी प्रसारित हुई तो सर्वत्र अपार आनन्द छा गया। सभी प्राणियों को यह संसार व्यर्थ जान पड़ा। वैराग्य की भावना का उदय हुआ। बहुत से लोगों ने सम्यक्त्व के प्रति श्रद्धान किया और बहुत से लोगों ने श्रावक के धर्म को स्वीकार किया। बहुत से लोग हृदय में विवेक धारण करके घर-बार छोड़ कर वन में चले गये। बहुत से लोग हृदय में आत्मभाव को अनुभव करने लगे। बहुत से लोगों ने कठोर तपस्या की। बहुत से व्यक्ति कर्मों को नष्ट करने के लिए भगवान् का

२४- अरहन्तभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा ।।--प्राकृत श्रुतभक्ति, पृ० १२६-२७

२५- परिकर्म च सूत्रं च स्तौमि प्रथमानुयोगपूर्वगते।
सार्द्धं चूलिकयाऽपि च पंचविधं दृष्टिवादं च ।।--संस्कृत श्रुतभक्ति, श्लो० ६

२६- सिद्धवरसासणाणं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
काऊण णमुक्कारं वोच्छे णमामि अंगाइं ।।--प्राकृत श्रुतभक्ति, गा० १

नाम जपने लगे । बहुत से लोगों ने तपस्या के फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त किया तथा बहुत से लोग स्वर्ग गये । ऐसी महावीर की वाणी की संसार में सदैव जय हो --

जब बानी सिरी महावीरकी तब आनंद भयो अपार ,
सब प्रानी मन अपनी हो धिक धिक यह संसार ।
बहुतनि समकित आदर्यो हो श्रावक भये अनेक ,
घर तजैं बहु बन गये हो छिदै धर्यो विवेक ।
कोई-पावैं भावना हो कोई गहैं तप घोर ,
कोई जपैं प्रभु नामको ज्यों मावैं कर्म कठोर ।
बहुतक तप करि सिध गये हो बहुत गये सुरलोक ,
बानत सो बानी सदा ही जयवन्ती जग होय ।।[२७]

हे प्राणी जिनवानी को समझ । जिनवाणी की कृपा से ही तेरे हृदय में ज्ञान उत्पन्न होगा । छहों द्रव्यों को पर्याय गुण सहित जानकर उनके प्रति सम्यक् श्रद्धान धारण कर । देव, धर्म और गुरु को निश्चित रूप से हृदय में धारण कर अर्थात उनके प्रति श्रद्धा रख । पूजा और दान का महत्व भी समझ तथा कर । जैन धर्म द्वारा ओउम (ॐ) शब्द की जो व्याख्या की गयी है उसे हृदय में धारण कर ।

जिनवाणी प्रानी जान ले रे ।
छहों दरव पदारथ गुन सरब मन नीके सरधान ले रे ।।
देव धरम गुरु निहचै धर उर पूजा दान प्रमान ले रे ।
बानत जान्यो जैन बखान्यो ॐ अपार मन आन ले रे ।।[२८]

इस भव-समुद्र से जिनवाणी ही पार लगायेगी । यह जिनवाणी मिथ्यात्व को नष्ट करती है और सम्यकत्व की भावना जगाती है । जन्म, जरा और मृत्यु से मुक्ति दिलाने वाली है । यह जीव की जड़ता अर्थात् मूढ़ता को नष्ट करके ज्ञान का

२७- बानत पद संग्रह, पद ५६

२८- वही, पद १०८

प्रकाश फैलाती है। यह शिवनगरी का मार्ग बताने वाली है। यह तीनों लोकों के दु:ख को दूर करने के लिए परम रसायन के समान है --

तारनहीं जिनवानी।
मिथ्या दूरे सम्यक पूरे वचन-सुधामृत दानी ।।
जड़ता नाशे ज्ञान प्रकाशे शिव-मारग-भगवानी।
बानत तीनों-लोक व्यवहार परम रसायन मानी ।।[२९]

संसार में रहते हुए मैंने बहुत दु:ख सहे। मेरे हृदय में सदैव मिथ्या भाव ही रहे, सम्यक्त्व का महत्व मैंने नहीं जाना और कभी भी सम्यक्आचार नहीं धारण किया। अनादि काल से मैं नरक और निगोद में नाना रूपों में कष्ट उठाता रहा हूं। अनेक बार सुर और नर पदों को भी धारण किया।

इन सबका फल केवल दु:खों का समूह ही है पर मैंने उनका फल सुखदायक माना। भ्रम रूपी मदिरा को पीकर व्याकुल हुआ किन्तु कभी भी सत्य का व्यवहार नहीं किया, सत्य को नहीं जाना। कुमति को नष्ट करने वाली जिनवाणी को नहीं जाना और न उसके अनुसार आचरण ही किया। अब जिनवाणी के प्रति मैंने श्रद्धा धारण की है। इस जिनवाणी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होते ही मेरे समस्त दु:ख मिट गये और मुझे सुख प्राप्त हुआ।[३०]

बानतराय की तरह बुधजन ने भी जिनवाणी का माहात्म्य बताते हुए अनेक पदों की रचना की है। वे कहते हैं --

जिनवाणी को सुनने से मिथ्यात्व दूर हो जाता है। मिथ्यात्व के दूर होने से सम्यक्त्व का उदय होता है जैसे सवेरा होने पर सूर्य के उदय से रात्रि का अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार जिनवाणी के प्रभाव से अनादि काल से होती हुई भूल समाप्त हो जाती है तथा यह जीव अपने ही घट में छिपी हुई अपनी आत्मनिधि

२९- बानत पद संग्रह, पद ९३०

३०- बसि संसार में पायो दु:ख अपार।
मिथ्याभाव लिये यूयो नहिं जानो सम्यकचार ।।-- वही, पद ४१

को पहचानता है उसका ज्ञान का आवरण हट जाता है तथा निधि प्रकट हो जाती है। वह जीव विभाव को त्याग कर अपने शुद्ध स्वभाव को सुधारता है उसका अनुभव करता है और कर्मों का नाश करता है। और सब कार्यों को छोड़ कर जिनवाणी का सेवन करो इसके बिना अज्ञान रूपी अन्धकार नहीं मिट सकता। भुवन कवि कहते हैं कि जिनवाणी के सुनने का फल इस भव में और परभव में निश्चित रूप से मिलता है--

जिनवानी के सुनैं सौं मिथ्यात मिटै।
मिथ्यात् मिटै समकित प्रगटै।
जैसें प्रात होत रवि उगत रैन तिमिर सब तुरत फटै।
अनादि काल की सुधि मिटावै अपनी निधि घट घट में उघटै।
त्याग विभाव सुभाव सुधारै अनुभव करता करम कटै।
और काम तजि सेवो वाकौं या बिन नाहिं अज्ञान घटै।
भुवन कहत परभव पांहीं वाकी हुंडी तुरत पटै॥[३१]

संसार-समुद्र से पार उतारने के लिए जिनवाणी नौका के समान है। इस जिनवाणी रूपी नौका की पतवार नय और प्रमाण हैं। इस नौका का खेवट स्वयं आत्म-ध्यान है। मन-वचन और काया से जो जन इस जिनवाणी का ध्यान करते हैं वे मुक्ति को प्राप्त करते हैं। जो अज्ञानी लोग इस जिनवाणी की आराधना नहीं करते हैं वे ही मिथ्यात्व रूपी भंवर में फंसते हैं। यह जिनवाणी जिनमुख से वर्ण और अक्षर रहित ही निकली, किन्तु श्रोताओं को यह वर्ण अक्षर युक्त ही सुनाई दी। इस हितकारी जिनवाणी को गणधरों ने धारण किया और महान् ग्रन्थों का निर्माण किया :--

सप्तऋषि-तारक नक्का जगमाहीं जिनवान।
नय प्रमान पतवारी जाके खेवट आतम ध्यान।
मन वच तन सुध जे भवि धारत ते पहुंचत शिवथान।
परत अथाह मिथ्यात सु भंवर ते वे नहिं गहत अज्ञान।

३१- भुवन विलास, पद ७४

विन आधार जिनमुख तैं निकसी परी वरन द्युत कान ।
हितदायक भुवजन कौं गनधर गुंथे ग्रन्थ महान् ।।[३२]

जिनवाणी को सुन कर मन को तथा चित को असीम आनन्द की प्राप्ति हुई । इस आनन्द को केवल अनुभव किया जा सकता है इसका वर्णन असम्भव है । जैसे प्यास से व्याकुल व्यक्ति को अमृत पीने में और चातक कौस्वाति नक्षत्र की बूंद को पीने में असीम आनन्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार जिनवाणी को सुनने से असीम आनन्द का अनुभव होता है । इसके सुनने से मिथ्यात्व रूपी अन्धकार तत्काल नष्ट हो जाता है तथा संशय और भ्रम का निवारण हो जाता है । अपने हृदय में ही तत्वार्थ के दर्शन होते हैं जिससे सार पदार्थ जाने जाते हैं अर्थात् लक्ष्य का पता चल जाता है । इस आत्मानुभव के समक्ष इन्द्र, नरेन्द्र, फणीन्द्र तथा अन्य पदवीधारियों का वैभव नगण्य है वे रंक दिखाई देते हैं । इस जिनवाणी के सुनने से हृदय में ऐसा असीम, अतुलनीय, अद्वितीय आनन्द का अनुभव होता है --

मनकैं हरष अपार चित कैं हरष अपार वानी सुनि ।
ज्यौं तिरषातुर अमृत पीवत चातक अद्रंद धार ।
मिथ्या तिमिर गयौ ततक्षिन ही संशयभरम निवार ।
तत्वारथ अपने उर दरस्यौ जानि लियौ निज सार ।
इन्द नरिंद फनिंद पदीधर दीसत रंक लगार ।
ऐसा आनंदभुवजन के उर उपज्यौ अपरंपार ।।[३३]

हे शारदा, तुम्हारी कृपा से मेरा हृदय आनन्दित हुआ है । जिस प्रकार प्यास से व्याकुल जीव को जल अमृत तुल्य लगता है उसी प्रकार मेरा आनन्द भी अनिर्वचनीय है । तुमने नय, प्रमाण और निक्षेप के द्वारा मुझे तत्वार्थ का ज्ञान कराया है । मेरी मिथ्यात्व रूपी भूल अब भाग गयी है, दूर हो गयी है और मुझे अपनी आत्मनिधि के दर्शन हुए हैं । कर्मों ने मुझे अनादिकाल से चारों गतियों में भ्रमण कराया

३२- भुवजनविलास, पद २३
३३- वही, पद ११

हे उस चतुर्गति के बन्धन से मुक्ति का मार्ग तुमने मुझे बताया है। तुम्हारे अनन्त गुणों का वर्णन करने की मुझ मन्दबुद्धि में सामर्थ्य नहीं है। तुम्हारी अत्यन्त कृपा को प्राप्त करमेरा हृदय आनन्दित हुआ है।

सारद। तुम परसाद तैं आनन्द उर आया।
ज्यौं तिसाहुर जीव कौं अमृत जल पाया।
नय परमान-निखेपतैं तत्वार्थ बताया।
भाजि धुलि मिथ्यात की निज निधि दरसाया।
विधिना मोहि अनादि तैं चतुर्गति भरमाया।
ता हरिवैकी विधि सबै मुझभाखि बताया।
गुन अनन्त मति अलपतैं मोपै जात न गाया।
प्रभुर कृपा लखि रावरी द्यानत हरषाया॥[३४]

हे जिनवाणी माता तुम मुझे पार लगाओगी यह निश्चय है। तुम्हारे वचन आदि और अन्त की बाधा से मुक्त हैं। उन वचनों से तुम मेरे संशय और भ्रम का निवारण करोगी। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े को पालती है उसी प्रकार तुम मुझे संभालोगी। काल रूपी बाघ के सामने आने पर मुझे उससे बचाओगी। हे माता दास यह विनती करता है तुम मेरी विनती को अपने हृदय में रखोगी तथा मुझ पर कृपा करोगी। मैं मोह रूपी जाल में उलझ गया हूं, मुझे तुम इस मोह जाल से मुक्त करोगी --

हो जिनवानी तू तुम मोकौं तारोगी।
आदि अन्त अविरुद्ध वचनतै संशय भ्रम निरवारोगी।
ज्यौं प्रतिपालत गाय बछरा त्यौं ही मुझकौं पारोगी॥
सनमुख काल बाघ जब आवै तब तत्काल उबारोगी।
द्यानत दास बीनवै माता या विनती उर धारोगी।
उलझि रह्यौ हूं मोह जाल में ताको तुम सुरझारोगी॥[३४क]

३४- द्यानतविलास, पद ३२

३४क-वही, पद १०

पौलतराम ने `जिनवाणी` की भक्ति में निबद्ध अपने पदों में लिखा है --

हे विद्वानो, अमृत के समान जिनवाणी का नित्य ही पान करो । यह जिनवाणी-सुधा महावीर भगवान् के मुख कमल से निकली है तथा जन्म और जरारूपी रोगों को दूर करने वाली है । गौतम गणधर आदि गुरुओं के हृदय-घट में प्रतिष्ठित हुई है तथा पीते समय अद्भुत सुरुचि पूर्ण लगती है । जिस प्रकार पानी मैल को साफ कर देता है उसी प्रकार यह जिनवाणी-सुधा भी पाप रूपी मैल को साफ कर देती है और विद्वानों के मन को प्रसन्न करती है । भ्रमरूपी धूलि को दूर करती है और मिथ्यात्वरूपी मेघों को उड़ाने के लिये वायु के समान है । यह कल्याणरूपी वृक्षों-थान के लिये पृथ्वी के समान है तथा संसार सागर को पार करने के लिये नौका के समान है । कर्मबन्ध को तोड़ने के लिये तेज़ छैनी है और मुक्ति-स्थान में पहुंचाने के लिये सुदृढ़ नसैनी है । यह जिनवाणी अपने और पर-वस्तु के स्वरूप का प्रकाशन करने के लिये सम्पूर्ण चन्द्रकला की तरह है । मुनियों के मन रूपी कुमुदनी को विकसित करने के लिये सुधाकर की प्रभा के समान है और समता सुख रूपी कुसुमों के लिये वाटिका की तरह है । जिस जिनवाणी की उपासना से आत्मपद की अनुभूति होती है, सम्पूर्ण अज्ञान दूर हो जाता है । विश्व के लिये मंगलमय समझकर त्रिभुवनपति इन्द्र आदि जिसकी उपासना और भक्ति करते हैं, जिस पतितपावन जिनवाणी का माहात्म्य-गान इन्द्र अपनी कोटि-कोटि जिह्वाओं से भी नहीं करसके । हम जैसे मतिमन्द उसका क्या माहात्म्य गान कर सकेंगे अर्थात् असमर्थ हैं --

निज पीज्यौ धीधारी, जिनवानि सुधासम जानके ।
वीरसुखारविन्दतैं प्रगटी, जन्म जरागद टारी ।
गौतमादि गुरु-उरघट व्यापी परम सुरुचि करतारी ।
सलिल समान कलिलमलगंजन बुधमनरंजनहारी ।
भंजन विभ्रम धूलि प्रभंजन, मिथ्याजलदनिवारी ।
कल्यानकतरु उपवनधरिनी, तरनीभवजलतारी ।
बंधविदारन पैनी छैनी, मुक्तनसैनी सारी ।
स्वपरस्वरूप प्रकाशन कौ यह, भाजुकला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदिनि मोदन शशिभा, सम सुख सुमन-सुवारी ।।

जाको सेवत सेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान विबुध हितकारी ।
कोटि जीभहूँ महिमा जाकी, कहि न सकै पविधारी ।
'दौल' अल्पमति केम कहे गुण, अखय उधारन हारी ।।[३५]

दौलतराम कहते हैं कि जिस व्यक्ति की जिनवाणी में रुचि और श्रद्धा नहीं है ऐसा मोही व्यक्ति निम्नगति में जाता है । ऐसा मूढ़ व्यक्ति वीतरागी जिन-देव को छोड़कर भैरव और यक्ष आदि देवताओं को पूजता है । कल्पलता के समान दयालुता त्याग कर हिंसा के कार्यों में इन्द्रियों को लगाता है । निर्ग्रन्थ गुरु में उस की श्रद्धा नहीं होती उसे बहुत आडम्बर वाले गुरु अच्छे लगते हैं । दूसरे के धन और दूसरे की स्त्री की चाह करता है तथा असाध पदार्थ खाता है । दूसरे का वैभव उसे अच्छा नहीं लगता लेकिन दूसरे के दुःख से वह प्रसन्न होता है । धर्म के कार्यों में एक पैसा भी खर्च नहीं करता किन्तु वाटिका बनवाता है , उसमें लाखों रुपया खर्च करता है । जिस प्रकार वह घर में रह कर अनेक प्रकार के पापों का संचय करता है उसी प्रकार वन में भी पाप कमाता है । वस्त्र त्याग कर दिगम्बर हो जाता है किन्तु बाघ चर्म पहनता है । आरम्भ का त्याग करके वह मूर्ख यन्त्र-मन्त्र में मन लगाता है तथा लोगों से पूजा कराना चाहता है । स्त्री और घर को त्याग कर जंगल में कुटी बना कर दासी रखता है । वह अपने को यती और तपस्वी कहता है किन्तु उसका मन विषयों में लगा रहता है । ऐसा मोहीस्वयं अनन्त भवों में भटकता है और दूसरों को भी अनन्त भवों में भटकाता है ।[३६]

जिनवाणी के द्वारा किस प्रकार आत्म-रत्न प्राप्त किया जा सकता है इसका वर्णन करते हुए दौलतराम कहते हैं --

जिनवाणी को सुन कर मुझे सुख प्राप्त हुआ । जिनवाणी के ज्ञान से तत्व के प्रति दुराग्रह रूपी अन्धकार नष्ट हो गया है तथा मेरे हृदय में स्याद्वाद का

३५- दौलतविलास, पद ५६
३६- वही, पद ५८

प्रकाश फैल गया है। मैंने चिरकाल से सोये हुए आत्मतत्व को प्राप्त किया है। मैं अनादि काल से असंयम की आग से जल रहा था। अब सम्यक्त्व रूपी अमृत से शीतलता प्राप्त हुई है। सम्यक्त्व से शान्ति प्राप्त हुई है। अब कामनाओं पर मैंने धैर्य से विजय प्राप्त कर ली है। धैर्य को धारण करके कामनाओं का त्याग किया है। अब समस्त भाव और अभावों को छोड़ कर मैंने सकल परमेष्ठी के स्वरूप को हृदय में धारण किया है। इस परमेष्ठी के ध्यान के फलस्वरूप मैंने अविचल चैन (मोक्ष) प्राप्त की है--

सुन जिन बैन श्रवन सुख पायो।
नस्यो तत्व दुर अभिनिवेश-तम, स्याद उजास कहायो।
चिर बिसर्यो लख्यो आतम रैन।
दह्यो अनादि असंजम दवतें, लहि व्रत सुधा सिरायो।
धीर धरी मन जीतन मैन।
धरी विभाव अभाव सकल अब, सकल रूप चित लायो।
"दौल" लख्यो अब अविचल-चैन।[३७]

जिनवाणी का माहात्म्य बताते हुए कविवर दौलतराम जी कहते हैं --

जग के भ्रम रूपी अन्धकार को दूर करने वाली जिनध्वनि अर्थात् जिनवाणी की जय हो। इस जिनवाणी के ज्ञान के बिना मुनिगण भी अपने सहज, शुद्ध स्वरूप को आजतक नहीं समझ पाये हैं। जिनवाणी के ज्ञान से ही निज-पर के विषय में हमारी अविवेक-पूर्ण धारणा का नाश हुआ है। जिनवाणी को गणधरों ने अंग और पूर्व के रूप में ग्रथित किया है। उसी जिनवाणी का आचार्य कुन्दकुन्द तथा अन्य बहुत से प्रमुख मुनियों ने गान किया है। जो जीव मोह-मद को पीकर जड़ हो गये थे वे स्थिरचित्त से जिनवाणी को सुनकर, तत्व ज्ञान प्राप्त करके जाग गये, उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान हो गया। कर्मरूपी मैल को साफ करने के लिये यह सुरगंगा के समान है। इस की महिमा अवर्णनीय है। हे जिनवाणी माता अब शीघ्र ही मेरे हृदय में प्रवेश करके इसे पवित्र करो --

---

३७- दौलतविलास, पद १०

जय जय जग-परम तिमिर हरन जिन धुनी ।
या जिन सनुको अजौं न सौंज निज सुनि ।
यह लखि हम निजपर अविवेकता हुनी ।।
जाकी गनराज अंत पूर्वमय धुनी ।
सोई कही है धुन्द-धुन्द प्रभुख बहु मुनि ।
जे घर जड़ भये पीय मोह वारुनी ।
तत्व पाय चेते जिन थिर सुचित सुनी ।
कर्ममल पखारनेहि विमल सुरधुनी ।
तज विलम्ब अब करौं दौल उरधुनी ।।[३८]

कवि भागचन्द कहते हैं कि यह वीतराग वाणी रूपी गंगा ही सच्ची है जिसमें निज धर्म की कहानी रूपी अविच्छिन्न धारा है । अर्थात् जो सदैव आत्म-धर्म का मर्म बताती है। इस गंगा में आप ज्ञान रूपी अत्यन्त पवित्र जल है जिसमें संशय या भ्रम रूपी कीचड़ तनिक भी नहीं है । जीवों को सुख देने वाली सप्त-भंग रूपी तरंगें जिसमें उठती रहती हैं । संत और ज्ञानी जनों के हृदय रूपी हंस जिसमें रमण करते हैं। जिस गंगा में स्नान करने से प्राणी कर्म मल रहित अर्थात् शुद्ध हो जाता है । मेरे हृदय में इस बात का निश्चय हो गया है --

सांची तो गंगा यह वीतराग वानी, अविच्छिन्न धारा निज धर्म की कहानी ।
जामें अति ही विमल आप ज्ञान पानी ।
जहां नहीं संशयादि पंक की निशानी ।
सप्त भंग जहं तरंग उछलत सुखदानी ।
संत चित मराल वृन्द रमै नित्य ज्ञानी ।
जाके अवगाहन तें शुद्ध होय प्रानी ।
'भागचन्द' निहचै घटमांहि या प्रमानी ।।[३९]

३८- दौलत विलास, पद ८

३९- जैन पद संग्रह, भाग २, पद १५

गंगा के उद्गम के साथ जिनवाणी के उद्गम का एक सांग रूपक में मनोरम वर्णन करता हुआ कवि कहता है --

वीर-हिमाचल तें निकसी गुरु गौतम के मुख-कुंड ढरी है ।
मोह महाचल भेद चली जग की जड़ता तप दूर करी है ।
ज्ञान पयोनिधि माँहि रली बहु भंग तरंगनि सौं उछरी है ।
ता शुचि शारद-गंग-नदी प्रति मैं अंजुलि कर शीश धरी है ।।

जिनवाणी को सुनने से मिथ्यात्व दूर होजाता है , आनन्द की अनुभूति होती है, मन हर्षित होता है ।संसार समुद्र से पार उतरने के लिए जिनवाणी नौका के समान है । यह सुधारस है, ऐसा समझ कर हर बुद्धिमान को नितप्रति जिनवाणी का पान करना चाहिए ।

मोह के उदय के कारण जिसे जिनवाणी नहीं सुहाती, ऐसे व्यक्ति की अधोगति निश्चित है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के जैन कवियों ने जिनवाणी की भक्ति के मर्म को हृदयंगम किया और जो पद लिखे उनमें न केवल जिनोपदेशों की महत्ता का गुणगान किया प्रत्युत उसके संरक्षक श्रुतधरों और शास्त्रोंके संरक्षण के महत्व को भी जनमानस तक पहुंचाया । उन्होंने अपने पूर्ववर्ती प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के आचार्यों की तरह जिनवाणी के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए उसकी स्तुति की है ।

जिनवाणी को उपास्य तत्व में सम्मिलित कर लिये जाने का एक बहुत बड़ा सांस्कृतिक लाभ यह हुआ कि तीर्थंकरों के उपदेशों को सुरक्षित रखने के लिए सुनियोजित प्रयत्न किये गये । तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को उनके विद्वान् शिष्यों ने, जिन्हें गणधर कहा गया है, बारह भागों में विभक्त कर उसे गुरु परम्परा द्वारा याद रख कर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया । इसी कर्ण-परम्परया प्राप्त होने के कारण ही इसे श्रुत संज्ञा से अभिहित किया गया । सम्मिलित रूप में इसे द्वादशांग संज्ञा प्राप्त है । ऐसी मान्यता है कि बारहवें अंग में महावीर से पूर्व का ज्ञान समाहित किया गया था ।

इस द्वादशांग श्रुत के पारगामी आचार्यों को `श्रुतकेवली` जैसे उच्च सम्मान-सूचक विशेषण दिये गये । आंशिक श्रुत के ज्ञाताओं को भी `श्रुतधर` कहा गया है ।

महावीर के बाद यह श्रुत परम्परा किस प्रकार क्रमशः उच्छिन्न होती गयी और सर्वथा नष्ट होने से बचाने के लिए सामूहिक प्रयत्न हुए उनके लिए `वाचना` कहा गया है । पाटलिपुत्र, मथुरा और वलभी में क्रमशः इस प्रकार की वाचनाओं का आयोजन हुआ और अन्ततः वलभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में ग्यारह अंगों को लिपिबद्ध कर दिया गया । वर्तमान में उपलब्ध ग्यारह अंगों को दिगम्बर परम्परा यह कह कर अस्वीकार करती है कि यह श्रुत नहीं है ।

दिगम्बर परम्परा में श्रुत संरक्षण के प्रयत्नों का प्राचीनतम उदाहरण आचार्य धरसेन द्वारा पुष्पदन्त और भूतबलि नामक व्युत्पन्न शिष्यों को `पूर्व` का ज्ञान प्रदान करनेतथा उनके द्वारा षट्खण्डागम नामक महाग्रन्थ की रचना करने का प्राप्त होता है । उसके बाद तो दोनों परम्पराओं में आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की ।

जिनवाणी को उपास्यतत्व में सम्मिलित कर लिये जाने से देवमन्दिर या जिनालय में देवप्रतिमा के साथ ही श्रुतभाण्डार या शास्त्रों के संग्रह की व्यवस्था की जाने लगी ।

शास्त्र के स्वाध्याय, श्रवण और दान को महान् पुण्य कार्य माना गया, इससे शास्त्रों की सुरक्षा के साथ ही उनकीप्रतिलिपियां करा कर स्वाध्याय के लिए दान देने की परम्परा प्रचलित हुई । ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं जब एक ही व्यक्ति ने एक सहस्र शास्त्रों की प्रतियां तैयार करायीं और दान में दी ।

जिनवाणी की भक्ति का ही यह अमूल्य अवदान है कि जिनमन्दिरों से सम्बद्ध श्रुतभण्डारोंमें लाखों की संख्या में प्राचीन ग्रन्थ अभी भी सुरक्षित हैं ।

गुरु-तत्व

परमात्म तत्व का साक्षात्कार कराने में गुरु की भूमिका महत्वपूर्ण है। जिनोपदिष्ट मार्ग द्वारा वस्तु तत्व का निरूपण करके व्यक्ति को भेद विज्ञान कराने और मोक्षमार्ग में प्रवृत्त कराने में गुरु का मार्ग दर्शन, प्रेरणा, उद्बोधन महत्वपूर्ण है। वह संसार के स्वरूप का यथार्थ चित्रण कर इन्द्रिय विषयों की क्षण भंगुरता, पारिवारिक सम्बन्धों का लोकोत्तर आत्मा और जड़ के स्वरूप का अवबोध, मानव जीवन की महत्ता और उपयोगिता आदि का ज्ञान कराता है और निश्रेयस के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। उसका आचार्यत्व इसी में है कि स्वयं सच्चारित्र के मार्ग पर चले और दूसरों को भी चलाये।[१] आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों को गुरु कहा गया है[२]। गुरु को पांच महाव्रतों से युक्त, कामजयी तथा क्रोध, लोभ और भय से मुक्त होना चाहिए[३]।

अरहन्त और सिद्ध को भी परमगुरु कहा गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वास्तव में आत्मा का गुरु आत्मा ही है, क्योंकि वही सदा मोक्ष की अभिलाषा करता है, मोक्ष सुख का ज्ञान करता है और स्वयं ही उसे परम हितकर जान उसकी प्राप्ति में अपने को लगाता है[४]।

आत्मा ही आत्मा को देहादि में ममत्व करके जन्म मरण कराता है

१- वदसमिदिगुत्तिजुदा मुत्तिपहे ठावया पुणो अण्णे।
अक्खावयगुणणिलये साहुगुणेणावि संजुत्ता ।।-- आचार्यभक्ति गा० ४

२- सुस्सूसया गुरुणं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्गुरुतया गुरव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्याय-साधव: । -- भगवती आरा०, ३००।५११।१३

३- पंचमहाव्रतकलितो पंचमधन: क्रोधलोभभयत्यक्त:।
एष गुरुरिति मण्यते तस्माज्ज्ञानीहि उपदेशम् ।।-- ज्ञा० सा०, ५

४- ह० उ०, ३४

और आत्मा ही उसे मोक्ष प्राप्त कराता है। इसलिए निश्चय से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं।[५] यह आत्मा अपने ही द्वारा अपने संसार को या मोक्ष को करता है। इसलिए आप ही अपना शत्रु और आप ही अपना गुरु है।[६]

वास्तव में आत्मा का शुद्ध भाव ही निर्जरा आदि का कारण है, वही परम पूज्य है और उस शुद्धभाव से युक्त आत्मा ही गुरु कहलाता है[७]।

आचार्य,उपाध्याय और साधु तीनों को उत्कृष्ट चारित्र पालन करने वाला माना जाता है। चारित्र की पूर्ण साधना के बाद ही मुक्ति प्राप्त होती है। चारित्र का आराधक ही योगी है और सिद्ध `योगीन्द्र` है। योग की साधना से ही `आर्हन्त्य` पद प्राप्त होता है।

इस प्रकार अर्हन्त और सिद्ध योगीन्द्र हैं तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु योगी।

मोक्ष मार्ग में आचार्य, उपाध्याय और साधु की भूमिका महत्वपूर्ण है। जिनवाणी को जन कल्याण के लिए प्रसारित करने का श्रेय इन्हीं को है। वे सच्चे अर्थों में गुरु हैं, इसलिए वंदनीय हैं। गुरु की महिमा अपार है।

कुन्दकुन्द ने प्राकृत चारित्र भक्ति में सम्यक्चारित्र की, योगि भक्ति में साधु की तथा आचार्य भक्ति में आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु की भक्ति की है।[८]

कुन्दकुन्द भक्ति का निवेदन करते हुए कहते हैं —"णिच्चकालं अंचेमि पुजेमि वंदामि णमंसामि।" -- नित्यकाल अर्चना करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं।[९]

५- समाधिश०, ७५

६- ज्ञा०, ३२।८१

७- पं० घा०।उ०।६२८

८- भक्तिसंग्रह, कुन्दकुन्दभारती

९- वही।

कुन्दकुन्द सभी प्रकार की भक्तियों का एक ही सुफल चाहते हैं कि दु:खों का क्षय हो, कर्मों का नाश हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति गमन हो, समाधि-मरण हो और जिनेन्द्र के गुणों की प्राप्ति हो --

"दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं
समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।[१०]

शिवार्य ने लिखा है कि जो पांच प्रकार के आचार का स्वयं निरतिचार पालन करता है तथा दूसरों से भी पालन कराता है और शिष्यों को भी आचार का उपदेश देता है, वह आचार्य है --

आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं ।
उवदिसदि य आयारं एसो आयारयं णाम ।।

(म० आ० गाथा ४१६)

कुन्दकुन्द ने लिखा है, "जो ज्ञानमय हैं, संयम में शुद्ध हैं, सुवीतरागी हैं और साधारण मुनियों को कर्मों का क्षय करने वाली शुद्ध शिक्षा-दीक्षा देते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी जिनेन्द्रदेव के साक्षात् प्रतिबिम्ब अर्थात् सदृश हैं।[११]

पूज्यपाद ने स्वयं व्रतों का आचरण करने और दूसरों से करवाने वाले को आचार्य कहा है।[१२]

जोइन्दु ने कहा है, "आचार्य वही है, जो निश्चय और व्यवहार रूप पंचाचारों से युक्त, शुद्धोपयोग की भावना से सहित, वीतराग, निर्विकल्पक समाधि का स्वयं आचरण करता है और दूसरों को भी करवाता है"।[१३]

१०- भक्तिसंग्रह, कुन्दकुन्दभारती ।

११- जिणबिम्बं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ।। -- कुन्दकुन्द, बोधपाहुड़, गा० १६

१२- तत्र आचरन्ति तस्माद् व्रतानि इति आचार्य: । -- सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४४२

१३- परमप्पयासु, १।७

इन्द्रनन्दि ने नीतिशास्त्र में लिखा है, 'पंचाचार में रत, मूलाचार का जानकार और चतुर्वर्ण संघ का अग्रणी आचार्य कहा जाता है।'[१४]

शुद्ध भाव से आचार्य में अनुराग करना, आचार्य-भक्ति कहलाती है। अनुराग से अनुप्राणित हो कर ही भक्त, कभी तो आचार्यों को नये-नये उपकरणों का दान देता है, कभी विनयपूर्वक उनके सामने जाता है, कभी उनके प्रति आदर दिखाता है, और कभी शुद्ध मन से उनके पैरों का पूजन करता है।[१५]

'आचार्य में अनुराग' का तात्पर्य है -- आचार्य के गुणों में अनुराग। कुन्दकुन्द ने ऐसे आचार्यों को प्रणाम किया है, जो उत्तम-क्षमा, प्रसन्नभाव, वीतरागता और तेजस्विता से युक्त हैं, तथा जो गगन की भांति निर्लिप्त और सागर की भांति गम्भीर है।[१६]

पूज्यपाद ने आचार्य भक्ति में, आचार्य के विविध गुणों का विशद वर्णन किया है। योग में स्थिर, तप की नाना विधियों के सम्पादन में अग्रणी पाप-कर्म के उदय से होने वाले जन्म-जरा-मरण के बन्धनों से मुक्त आचार्यों को 'मुकुलीकृतहस्त-कमलशोभितशिरसा' नमस्कार करने से अविनश्वर, निर्दोष और अनन्त मोक्ष-सुख प्राप्त होता है।[१७]

यतिवृषभ ने आचार्य के गुणों का वर्णन कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त की है।[१८] शिवार्य ने विशुद्ध भाव से आचार्यों की तीव्र भक्ति करने की बात कही है।[१९]

१४- पंचाचाररतो नित्यं मूलाचारविदग्रणी: ।
चतुर्वर्णस्य संघस्य य: स आचार्य इष्यते ।।-- इन्द्रनन्दि, नीतिशास्त्र

१५- आचार्याणामुपकरणदानं सम्मुखगमनं सम्भ्रमविधानं पादपूजनं दान-सम्मानादि-विधानं मन:शुद्धियुक्तोऽनुराग इत्याचार्यभक्तिरुच्यते ।--तत्वार्थवृत्ति,पृ० २२८-२२९

१६- गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्वमुणिवसहा ।
एरिस गुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो ।।—आचार्यभक्ति, गा० ६

१७- आचार्यभक्ति, श्लो० १०,११

सोमदेव ने अष्टद्रव्यों से आचार्य की पूजा करने की बात लिखी है।

आचार्यों की भक्ति करने से सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। कुन्दकुन्द का कथन है, 'मुझ अज्ञानी के द्वारा आपके गुणों के समूह की जो स्तुति की गयी है, वह गुरु-भक्ति से युक्त मुझको बोधिलाभ देवे'।[२०]

कुन्दकुन्द ने चारित्र भक्ति का स्वतन्त्र रूप से कथन किया है। आचार्य की व्याख्या करते हुए ऊपर लिखा है कि जो चारित्र का स्वयं पालन करते हैं और दूसरों से पालन कराते हैं, वे आचार्य हैं। इस चारित्र की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने लिखा है --'चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्'[२१] अर्थात् जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाये या आचरण करना मात्र चारित्र कहलाता है।

पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है, 'संसार बन्ध के कारणों को दूर करने की अभिलाषा करने वाले ज्ञानी पुरुष, कर्मों की निमित्तभूत क्रिया से विरत हो जाते हैं, उसी को सम्यक्चारित्र कहते हैं। चारित्र अज्ञानपूर्वक न हो अतः सम्यक् विशेषण जोड़ा गया है।'[२२] आचार्य भट्टाकलंक ने तत्वार्थवार्तिक[२३] में और श्रुतसागर सूरि ने तत्वार्थवृत्ति में इसी परिभाषा का समर्थन किया है।

कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड़ में लिखा है, 'जो जाने सो ज्ञान और जो देखे सो

१८- पंचमहव्वयतुंगा तक्कालिय सपरसमयसुदधारा।
णाणागुणगणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ।।--तिलोयपण्णत्ति, भा० १, गा० १।३

१९- भगवती आराधना।

२०- तुम्हं गुणगणसंथुदि अजाणमाणेण जो मया दुत्तो।
तेण मम बोहिलाहं गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्चं ।।-- आचार्यभक्ति, गा० १०

२१- सर्वार्थसिद्धि, पृ० ६

२२- संसारकारण निवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः।
कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् ।।-- वही, १।१, पृ० ५

दर्शन तथा दोनों के समायोग को चारित्र कहते हैं।[२४]

कुन्दकुन्दने भावपाहुड़ में लिखा है, 'अरिहन्त की वाणी में सच्चे श्रद्धान के बिना कठोर से कठोर तप और संयम व्यर्थ है।[२५] जैन शास्त्रों के अनुसार केवल कर्मकाण्ड सम्यक् चारित्र नहीं है, उसके पीछे सच्चा भाव होना ही चाहिए। इसे ही 'आभ्यन्तर-चारित्र' कहते हैं। आचार्य अकलंकदेव ने उसे 'मानसचारित्र' की संज्ञा से अभिहित किया है।[२६]

कुन्दकुन्द ने लिखा है कि पूर्ण चारित्र पाल कर, मोक्ष गये हुए सिद्धों की वन्दना से चरित्रगत विशुद्धता दूर होती है और मोक्ष सुख प्राप्त होता है।[२७] उन्होंने पांच प्रकार के चारित्र की भक्ति से, कर्म-मल का क्षय होना लिखा है।[२८]

पूज्यपाद ने आचार के पांच भेद किये हैं -- ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार और चारित्राचार। पांचों ही की वन्दना की है और पांच प्रकार के आचार को धारण करने वाले मुनियों को भी नमस्कार किया है।[२९] उन्होंने कहा :

२३- भट्टाकलंक, तत्वार्थवार्तिक, १।१ का वार्तिक।

२४- जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणंभणियं।
णाणस्स पिच्छयस्स य समवण्णाहोइ चारित्तं ।।-- कुन्दकुन्द, चारित्रपाहुड़, गा०३

२५- भाव रहिओ ण सिज्झइ जइ वितवंचरइ कोडि-कोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ।।-- भावपाहुड़, गा० ४

२६- स द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति। बाह्यो वाचिक: कायिकश्च बाह्येन्द्रिय-प्रत्यक्षत्वात्, आभ्यन्तरो मानस: छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात् तस्योपरम: सम्यक्चारित्र-मित्युच्यते। -- तत्वार्थवार्तिक, १।१

२७- जइ रायेण दोसेण मोहेणाणादरेण वा।
इं वंदित्ता सव्वसिद्धाणं संजदा सा पुणुक्कुणा ।।
संजदेण मए सम्मंसव्वसंजमभाविणा। सव्वसंजमसिद्धीओ लद्धपदे मुत्तिसुहं।
-- चारित्रभक्ति, गा० ९,१० ।

२८- वही, गा० ३-४

२९- दशभक्त्यादिसंग्रह, श्लोक २-८।

पांच प्रकार का आचार संसार-समुद्र से पार करने वाला तीर्थ है, उत्कृष्ट मंगल रूप है, उसको मैं नमस्कार करता हूं।[३०]

चारित्र की महिमा का वर्णन करना, चारित्र भक्ति ही है। सोमदेव ने संयम, दम और ध्यानादि से युक्त-चारित्र को नमस्कार करते हुए लिखा है कि चारित्र तो 'सम्यक्त्वरत्नांकुर' है उसके बिना मुनियों के बड़े-बड़े तप भी व्यर्थ हैं[३१]। एक दूसरे स्थान पर भाव-विभोर होते हुए उन्होंने लिखा, 'मनोकामनाओं को पूरा करने के लिए चारित्र चिन्तामणि के समान है, सौन्दर्य तथा सौभाग्य की निधि है, घर की वृद्धि के लिए लक्ष्मी है और बल तथा आरोग्य देने में पूर्ण समर्थ है। मोक्ष के लिए किये गये पंचात्मक चारित्र को मैं नमस्कार करता हूं। उससे विविध स्वर्गापवर्ग प्राप्त होते हैं।'[३२]

कुन्दकुन्द ने प्राकृत योगि-भक्ति में योगियों की महिमा का विशद वर्णन किया है। उन्होंने योगियों को प्रायः अनगार शब्द से अभिहित किया है। गुणधर अनगारों की वन्दना, उन्होंने 'अंजलिमुकुलित हस्तों' हो कर, हृदय से की है।[३३]

एक दूसरे स्थान पर उन्होंने ज्ञानोदक से निषिक्त शील गुण से विभूषित, तपःसुगन्धि से सुगन्धित, राग-द्वेष से रहित और शिव पथ के नायक ऐसे योगियों

३०- आचारं सहपंचभेद मुदितं तीर्थं परं मंगलम्। --दर्शनभक्त्यादिसंग्रह, श्लोक ८

३१- ज्ञानं दुर्भगदेहमंडनमिव स्यात् स्वस्य खेदावहं वृत्तं साधु न तत्फल-श्रियमयं सम्य-क्त्वरत्नांकुरः। कामं देव यदन्तरेण विफलास्तास्तास्तपोभूमयस्तस्मै त्वच्चरि-ताय संयमदमध्यानादिधाम्ने नमः। -- उपासकाध्ययन, पृ० ३०६

३२- यच्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसतिः सौरूप्यसौभाग्ययोः
श्री पाणिग्रहकौतुकं कुलबलारोग्यागमे संगमः।
यत्मुक्तैश्चरितं समाधिनिधिभिर्मोक्षायपंचात्मकं
तच्चारित्रमहं नमामि विविधं स्वर्गापवर्गाप्तये।।-- वही, पृ० ३०१

३३-थोस्सामि गुणधराणं अणगाराणं गुणोहि तच्चेहिं।
अंजलिमउलियहत्थो अभिवंदंतो सविभवेण।।-- योगि भक्ति, गा० १

को नमस्कार किया है।[३४]

पूज्यपाद ने योगि-भक्ति में योगियों के द्वारा किये गये विविध तपों का विशद वर्णन किया है। अन्त में उन्होंने योगी की स्तुति करते हुए लिखा है, "तीन योग धारण करने वाले बाह्य और आभ्यन्तर रूप तप से सुशोभित, प्रवृद्ध पुण्य वाले मोक्षरूपी सुख की इच्छा करने वाले मुनिराज मुझे सर्वोत्तम शुक्लध्यान प्रदान करें।[३५]

उपर्युक्त अनुशीलन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में गुरु की अत्यधिक प्रतिष्ठा है। पंच परमेष्ठियों को 'गुरु' नाम से सुशोभित करने से यह स्पष्ट है कि जैन भक्ति में गुरु को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। संसाररूपी समुद्र से पार उतारने के लिए गुरु नौका के समान है।

गुरु की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए आचार्यों ने उनके चारित्र, ध्यान और साधना की भी महत्ता का प्रतिपादन किया है।

हिन्दी के जैन कवियों ने गुरु की भक्ति में अनेक पदों की रचना की है जिनमें गुरु के स्वरूप का भी प्रतिपादन मिलता है तथा उसके महत्व का भी अवबोध होता है।

दौलतराम कहते हैं कि वह श्रीगुरु महाराज कब मिलेंगे जो मुझे संसार समुद्र से पार कर दें। जो भोगों से विरक्त हो कर योग साधना में लगे हुये हैं। जिन्होंने बाहर और भीतर के परिग्रह-भार ममत्व बुद्धि को दूर कर दिया है। जो इन्द्रियों का दमन कर चुके हैं। अहंकार जिन्हें छू तक नहीं गया है। जो क्रोध मान माया और लोभ जीतकर वासनातीत हो चुके हैं। इस प्रकार के श्री गुरु महाराज मुझे कब मिलेंगे जो भव समुद्र से पार कर दें।

३४- णाणोदयाहिसित्ते सीलगुणाविभूसिये तवसुगन्धे।
वयगयरायमुदहृदे सिवगइपहणायगे वन्दे ।। -- योगि भक्ति, गा० १४

३५- इति योगत्रयधारिणः सक्ल तपशालिनः प्रवृद्धपुण्यकायाः।
परमानन्द सुखैषिणः समाधिमयं दिशन्तुनो मदन्ताः ।।-- संस्कृत योगि-भक्ति पद्य-८

जिनकी दृष्टि में कंचन और कांच और निंदा तथा स्तुति करने वाले एक से हैं, जो कठिन-कठिन तप तपते हैं और जिन्होंने अपनी मन, वाणी और कर्म की परिणति को आत्माभिमुख कर लिया है। जो ग्रीष्म-काल में पर्वत पर ध्यान लगाते हैं, शीत-काल में नदी-तट के तट पर आसन जमाते हैं और वर्षा-काल में वृक्षों के नीचे आत्म-साधना करते हैं। जिनका मन करुणा से पूर्ण रहता है, जो त्रस और स्थावर -- दोनों को कदापि कष्ट नहीं पहुंचाते और जो अहिंसा पालन में इतने सावधान रहते हैं कि सदैव पृथ्वी को चार-हाथ आगे देख-भाल करके ही अपना अगला चरण उठाते हैं, जिससे किसी भू-चर प्राणी को पीड़ा न पहुंचे। जो काम-तृष्णा दूर कर चुके हैं, कठोर व्रत-नियमों के द्वारा, जिन्होंने अपनी आत्मा का दमन कर लिया है। जो सदाचार की प्रतिमूर्ति हैं, जिन्होंने अपनी आत्मा से मोहरूपी महान मल दूर कर दिया है, जो महीने और छह महीने तक अन्न जल नहीं लेते, जो आत्म-चिन्तन और आत्म-शोधन में ही लवलीन रहते हैं, वन ही जिनका घर है और जो सदैव शुद्ध और प्रासुक आहार लेते हैं। जिनकी आत्मा के भीतर कभी भी किंचित भी आर्त और रौद्र परिणाम उदित नहीं होते। जिनका चित्त सदैव धार्मिक और विशुद्ध भावों से भरा रहता है। जो सदैव ध्यानमग्न हो कर आत्मा के निगूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार करते रहते हैं। और जो ध्यान, ध्याता और ध्येय के विकल्प को भूल कर अखण्ड और विशुद्ध आत्मा में अपने को विलीन कर देते हैं। जो अपार संसार-समुद्र से स्वयं पार होते हैं और दूसरों को भी पार पहुंचाते हैं। ऐसे श्री गुरु महाराज के मिलन की उत्कट प्रतीक्षा है और मैं परोक्ष रूप में ही इन श्री गुरु महाराज का विनीत वन्दन करता हूं। ऐसे गुरु महाराज कब मिलेंगे, जो मुझे भव-समुद्र से पार कर दें। मुझे भव बाधा से उन्मुक्त कर मुक्ति का मार्ग पकड़ा दें --

कबधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करि हैं भवोदधि पारा हो।
भोगउदास जोग जिन लीनों, छांड़ि परिग्रह भारा हो।
इन्द्रिय दमन वमन मद कीनो, विषय कषाय निवारा हो।
कंचन कांच बराबर जिनके निंदक वंदक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक निजघर मनवचतनकर धारा हो।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरै, पावस तरुतर ठारा हो।

करुणाभीन चीन ऋषावक, ईर्यापंथ समारा हो ।
मार मार व्रत धार शील दृढ़, मोह महामल टारा हो ।
मास क्षमास उपास बासवन प्रासुक करत अहारा हो ।
आरतरौद्रलेश नहिं जिनके धर्म शुकल चित धारा हो ।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम शुध उपयोग विचारा हो ।
आप तरहि औरन को तारहिं, भवजलसिन्धु अपारा हो ।
दौलत ऐसे जैन-जतिन को नितप्रति धोक हमारा हो ।। ३५क

दौलतराम संसारी जीव को सतगुरु के उपदेश द्वारा अपना आत्मस्वरूप अनुभव करने की सलाह देते हैं । वे कहते हैं --

हे जीव ! तुम पर दया करके तुम्हारे हित के लिये दयालु सतगुरु जो बातें बता रहे हैं उनको ध्यान से सुनो और उन पर अमल करो । यह शरीर जड़ और पर पदार्थ है तुम्हारा स्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप है इसलिये दोनों एक नहीं हो सकते, दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं । तुम अपना अज्ञान छोड़ो और आत्मा को पहचानो, ममतावश तुम चारों गतियों में फिरते हो और विषय-वासना रूपी महाविष को खाते हो । तुम इनका त्याग करके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूपी अमृत का पान करो उन्हीं में मन को रमाओ । माता, पिता, पुत्र, भार्या ये सब स्वार्थ के कारण को तुमसे जुड़े हैं तुम इनके लिये अपने ज्ञान आदि गुणों को नष्ट मत करो । तन और धन का भोग और संग स्वप्न की तरह नाशवान है । तुम भ्रम बुद्धि त्याग कर इनकी ममता को त्यागो और आत्मानुभव करो । यह नरभव, उत्तम कुल, उत्तम स्थान सब दुर्लभ हैं । तुम जिन के उपदेश को धारण करो और मन से मोह, ममता को बिलकुल निकाल दो । मोह, ममता के त्याग से ही तुम द्वन्द्व की अवस्था से मुक्त हो सकोगे और द्वन्द्वातीत स्थितिजन्य चिरन्तन सुख का अनुभव कर सकोगे ।

सुनो जिया ये सतगुरु की बातें, हित कहत दयाल दयातें ।
यह तन जान अचेतन है, तू चेतन मिलत न यातें ।
तदपि पिछान एक आत्मको, तजत न हठ शठतातें ।

३५क- दौलतविलास, पद ७२

चहुँगति फिरत मरत ममता को, विषय महाविष खातैं ।
तदपि न तजत न रजत अभागे, दृगब्रतबुद्धि सुधातैं ।
मात तात सुत भ्रात स्वजन तुअ, साथी स्वारथ नातैं ।
तू इन काज साज गृह को सब, ज्ञानादिक मत घातैं ।
तनधन भोग संग सुपनसम, वार न लगत विलातैं ।
ममत न कर भ्रम तज तू भ्राता, अनुभव ज्ञान कलातैं ।
दुर्लभ नरभव सुथल सुकुल है, जिन उपदेश लहातैं ।
दौल लखो मनसौं ममता ज्यों, निवहो द्वन्द दशातैं ।।[३६]

बार-बार समझाने पर भी जब शिष्य सद्शिक्षा नहीं ग्रहण करता तो उससे उसके अनाड़ीपन का ही पता चलता है । दौलतराम कहते हैं कि यह जीव बिलकुल अज्ञानी है सत्गुरु की हितकारी शिक्षा को भी यह नहीं मानता । दुर्बुद्धि रूपी नारि के संग में सुख मानता है और सुमति (सन्मति) रूपी नारि को भूल गया है । जिस नर भव की इन्द्र भी इच्छा करते हैं वह इसने विषय रूपी विष को चखने में बिगाड़ दिया है, खो दिया है । आकुलतारहित ज्ञानको त्याग कर चाह के कारण आकुलता को बढ़ाया है । समता का खजाना रखते हुए भी अपनी भूल के कारण भिखारी हो कर संसार के दुःखों को सहता है । परद्रव्यों की परिणति में यह जीव अपने को कर्ता मानता है । जिस कषायरूपी अग्नि से जलता है उसी में अभिलाषा रूपी घी डाल कर उसे बढ़ा रहा है । दुःख से डरता है पर दुःख के कारणस्वरूप कामों को करता है और उन्हीं से नित्य प्रेम करता है । अब तू अत्यन्त दुर्लभ जिनवाणी को सुन कर संशय और मोह को दूर कर । अपना और पर का हित और अहित जानकर तू मुक्ति के मार्ग पर चल ।

न मानत यह जिय निपट अनारी । सिख देत सुगुरु हितकारी ।
कुमतिकुनारि संग रति मानत , सुमति सुनारि बिसारी ।
नरपरजाय सुरेश चहैं सो, चखि विषविषय विगारी ।

३६- दौलत विलास, पद ६१

त्याग अनाकुल ज्ञान चाह पर आकुलता विसतारी ।
अपनी भूल आप समतानिधि, भवदुख भरत भिखारी ।
परद्रव्यनकी परनतिको शठ, वृथा बनत करतारी ।
जिस कषायदव जरत तहां अभिलाष लहा घृत डारी ।
दुखमें हेरै हरै करै दुखकारन, तैं नित प्रीति करारी ।
अतिदुर्लभ जिन बैन श्रवनकरि, संशयमोह निवारी ।
दौल स्वपर-हितअहित जानके, होवहु शिवमगचारी ।। ३७

धानतराय कहते हैं कि गुरु के समान कोई दानी नहीं है । गुरु अद्भुत दानी है । जो अज्ञानांधकार सूर्य के प्रकाश से दूर नहीं होता, वह गुरु के वचनों के प्रकाश से दूर हो जाता है । गुरु मेघ के समान ही निःस्वार्थ भाव से सब पर कृपा करते हैं, सबको ज्ञान प्रदान करते हैं । गुरु नरक और पशुगति के दुःखों से छुटकारा दिला कर स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त कराते हैं । तीनों लोकों में गुरु रूपी दीपक के प्रकाश के समान कोई नहीं है । साधारण दीपक के नीचे तो अन्धेरा रहता है किन्तु गुरु अन्तर और बाहर दोनों प्रकार से शुद्ध है । भवसमुद्र से पार होने के लिये गुरु जहाज के समान है । सभी कुटुम्बीजन संसार में भ्रमण कराने वाले हैं । हे जीव तुम रात, दिन हर समय अपने पवित्र मन में गुरु के दोनों चरण कमलों को धारण करो उन्हीं की भक्ति करो --

गुरु समान दाता नहिं कोई ।
भानु प्रकाश न नाशत जाको सो अंधियारा डारे खोई ।
मेघ समान सबनपे बरसे कछु इच्छा जाके नहिं होई ।
नरक पशुगति आगमोंहितें सुरग मुकत सुख थापै सोई ।
तीन लोक मन्दिर में जानो दीपकसम परकाशक लोई ।
दीपतले अंधियारा भरयौ है अन्तर बहिर विमल है कोई ।
तारन तरन जिहाज सुगुरु है सब कुटुम्ब डोवै जगतोई ।
धानत निशि दिन निरमल मनमें राखो गुरु-पद पंकज दोई ।३८

३७- दौलत विलास, पद १०२
३८- धानतविलास, पद २३

बनारसीदास कहते हैं कि जिस प्रकार दानी व्यक्ति दया करके दु:खी व्यक्ति को भीख देता है, उसी प्रकार गुरु भी शुभ भावों से अज्ञानी व्यक्ति को शिक्षा देता है। सतगुरु अज्ञानी व्यक्ति से कहता है कि समझ जाओ, जाग जाओ अपने स्वरूप को समझो। गुरु तुझे तेरे हित के लिये शिक्षा देता है तू गुरु की वाणी को सुन और समझ। शुक और सारिका सिखाये जाने पर शब्द को समझ लेती है वे बिलकुल भी नहीं भूलती। तू तो साक्षात् आत्मा की मूर्ति है और वे तिर्यंच गति के पक्षी हैं। तुझे तो अच्छी तरह से सब बातों को याद रखना चाहिए। तू अपने हृदय की आँखें खोल और जौहरी बन जा। विवेक की तराजू लेकर शब्द रूपी जवाहरात को तौल। शब्द ही जवाहरात हैं, शब्द ही गुरु हैं तथा शब्द ही ब्रह्म की खोज का मार्ग है। शब्दअमूल्य हैं, उनमें सब गुण छिपे रहते हैं। तू शब्द का महत्व समझ। यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिये तू शब्द के महत्व को समझ ले और अपने नर-जन्म को सार्थक करा ले। न मालूम फिर कब ऐसा सुयोग और ऐसी सत्संगति मिले। इसलिये तू शीघ्र ही समझ जा --

ज्यों दातार दयाल ह्वै देय दीन को भीख।
त्यों गुरु कोमल भावसों कहे मूढ़ को सीख।
सुगुरु उचारे मूढ़सों चेत चेत चित चेत।
समुझ समुझ गुरु को शबद यह तेरो हित हेत।
शुक सारी समुझै शबद समुझि न भूलहिं रंच।
तू मूरति नारायणी वे तो सठ तिरजंच।
होय जौहरी जगत में घटकी आखें खोलि।
तुला संवार विवेक की, शब्द जवाहिर तोलि।
शब्द जवाहिर शब्द गुरु शब्द ब्रह्म की खोज।
सब गुण गर्भित शब्द में, समुझ शब्द की चोज।
समुझ सकै तो समुझ अब, है दुर्लभ नर देह।
फिर यह सांति कब मिलै, तू चातक हौं मेह।

३६- बनारसी विलास, पृ १७

बुधजन संसारी जीव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तेरे कष्टों को देखकर गुरु दया करके तुझे जो बताते हैं, उसे तू भली प्रकार समझ ले । तुझे तेरे हित का उपाय बताते हैं किन्तु तू लोभ में फंसा हुआ है इसलिये कुछ नहीं करना चाहता । पर स्वभाव को तू अपने अनुकूल बनाना चाहता है अपने जैसा बनाना चाहता है । वह तो न कभी हुआ है और न होगा । तू व्यर्थ का सोच विचार करता है । भला, बुरा जैसा तूने किया है वैसा ही फल मिलेगा । तू अपने हृदय में चिन्ता करके व्यर्थ ही अपना शरीर चिन्ता रूपी अग्नि में जला रहा है । पर पदार्थ को अपना जानकर उनसे मोह करता है इसीलिये दुःख पाता है । पर पदार्थ के मोह को त्याग कर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जा अर्थात् आत्मानुभव कर, आत्मा से प्रीति कर तभी अविचल मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है --

गुरु दयाल तेरा दुख लखिकैं सुन ले जो फुरमावै है ।
तोमैं तेरा जतन बतावै लोभ कछू नहिं चावै है ।
पर सुभावको मोरया चाहै अपना उसे बनावै है ।
सो तो कबहूं हुवा न होसी नाहक रोग लगावै है ।
सोटीखरी जस करी कमाई तैसी तेरे आवै है ।
चिन्ता आगि उठाय हियामें नाहक जान जलावै है ।
पर अपनावै सो दुख पावै बुधजन ऐसें गावै है ।
परको त्यागि आप थिर तिष्ठै सो अविचल सुख पावै है ।। ४०

बुधजन सत्गुरु की शिक्षा मानकर अपने जीवन को सार्थक बनाने की सलाह देते हुए संसारी जीव को सम्बोधित करके कहते हैं कि - हे ज्ञानी जीव ! सत्गुरु ने जो हितकारी उपदेश दिया है उसे ग्रहण करो तथा उसके अनुसार आचरण करो । तुम अनन्त बार अनन्त गतियों में भटकते रहे और तुम्हें शान्ति नहीं मिली । किसी पुण्य के प्रभाव से तुमने श्रावक कुल में नर भव प्राप्त किया है । तुम्हें निर्दोष देव के दर्शन और उनकी वाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । आध्यात्मिक चर्चा का प्रसंग

४०- बुधजन विलास, पद ३३

और सत्संगति का सुअवसर भी प्राप्त हुआ । करोड़ों जन्मों में भी ऐसा सुअवसर प्राप्त नहीं होगा । अब तुम विषयों की झूठी आशा को त्याग कर तत्वार्थ में अपना मन लगाओ । इस तत्वचर्चा से तुम्हारा हित होगा । शरीर को आत्मा मान कर तुम सदैव विषय भोगों में लिप्त रहे । इसी प्रकार अपना अहित करते हुए भव-भव के दुःख क्यों सहन कर रहे हो । करोड़ों ग्रन्थों का सार मैं बतलाता हूं कि तुम राग-द्वेष को त्याग कर इस भव-समुद्र से पार उतर जाओ । राग-द्वेष रहित अवस्था से ही इस भव भ्रमण से मुक्ति प्राप्त हो सकती है --

सुणिल्यो जीव सुजान सीखगुरु हितकी कही ।
रुल्यो अनन्ती बार गति गति साता ना लही ।
कोइक पुन्य संजोग श्रावक कुल नरगति लही ।
मिले वेन निरदोष वाणि भी जिनकी कही ।
चरचाको परसंग अऊ सरध्यामें बैठिवो ।
ऐसा अवसर फेरि कोटि जनम नहिं मेटिवो ।
झूठी आशा छोड़ि तत्वारथ रुचि धारिल्यो ।
या में कछुन विचार आपो आप सुधारिल्यो ।
तनको आतम मानि भोग विषय कारज करो ।
यों ही करत अकाज भव भव क्यों कूवे परो ।
कोटि ग्रन्थको सार जो भाई बुधजन करो ।
राग दोष परिहार याही भवसों उद्धरो ।।[४१]

बुधजन कवि गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि गुरु ने जो ज्ञान का प्याला पिलाया उससे मेरे सब दुःख, द्वन्द्व मिट गये । गुरु के ज्ञान के प्याले को पीकर मैंने पर भावों को त्याग दिया और मैं आत्मानुभव के रस में मतवाला हो गया । उस ज्ञान के प्याले को पीकर मैं इतना तृप्त हो गया कि एक क्षण के लिए भी अतृप्ति का अनुभव नहीं होता । मेरे सभी झंझट समाप्त हो गये अर्थात

४१- बुधजन विलास, पद ६६

पर भावों के परिणमन स्वरूप सभी दुःखों से मैं मुक्त हो गया हूं। मैं आत्मानुभव के अद्भुत आनन्द में मग्न हो गया और मैंने अपने को सम्हाल लिया। मैं आत्म-कल्याण में रत हो गया —

गुरु ने पिलाया जो ज्ञान पियाला।
मह बेखबरी परभावों की निजरसमें मतवाला।
यों तो छाक जात नहिं किनहूं मिटि गये आन जंजाला।
अद्भुत आनन्द मान ध्यानमें जुधजन हाल सम्हाला।।[४२]

जगतराम मन की अज्ञानता का वर्णन करते हुए गुरु से कृपा की कामना करते हुए कहते हैं कि हे गुरुदेव! मेरा मन बिलकुल अज्ञानी है। मेरे मन में जरा सा भी विवेक नहीं है। बार-बार तुम इसे समझाते हो लेकिन फिर भी यह धर्म में श्रद्धा नहीं रखता। धर्म के कार्यों में अरुचि रखता है। अनर्थ की जड़ क्रोध से प्रेम करता है और बहुत घमण्ड भी करता है। छल से अपना कार्य करना चाहता है तथा लोभ में पूरी तरह से फंसा हुआ है। यह समस्त वैभव तथा ऐश्वर्य के साधन नश्वर हैं, नाश होने वाले हैं, फिर भी इन पर घमंड करता है। गुरु ने कृपा करके उपदेश दिया है, उन्हीं की कृपा से सब कार्य बनेंगे तथा यह जीवन सफल होगा। गुरु के उपदेश और धर्म के सिद्धान्तों को सुन कर अपना मन धर्म में लगाओ तभी सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा। —

गुरुजी म्हारो मनरो निपट अजान।
बार-बार समझावत हों तुम तोऊ न धरत सरधान।
विषै भोग अभिलाषा लागी, सहत काम के बान।
अनरथ मूल क्रोध सो लिपट्यो, बहोरि धर्यो बहु मान।
छलको लिये चहत कारज को, लोभ पर्यो सब थान।
विनासीक सब ठाठ बन्या है, ता परि करह गुमान।
गुरु प्रसाद ते सुलट होयगी, दयो उपदेस सुदान।
जगतराम चित को इत ल्यावो सुनि सिद्धान्त बखान।।[४३]

४२- जुधजन विलास, पद ७७
४३- हिन्दी पद संग्रह, पद ११२

भागचन्द सत्गुरु के उपदेश के महत्व को बताते हुए कहते हैं --

अरे ही अज्ञानी तुने कठिन मनुष्यभव पायो ।
लोचन रहित मनुष्य के कर में, ज्यों बटेर ला आयो ।
सो तु खोवत विषयन माही, धरम नहीं चित लायो ।
भागचन्द उपदेश मान अब, जो श्रीगुरु फरमायो ।। ४४

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के जैन कवियों को गुरु के महत्व का अवबोध प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य के माध्यम से हुआ । उसी परम्परा में उन्होंने पदों की रचना की ।

इसके अतिरिक्त निर्गुण भक्तिधारा के हिन्दी कवियों द्वारा गुरु का जो महत्व प्रतिपादित हुआ, उससे भी जैन कवियों को अपने लेखन के लिए बल मिला । इस दृष्टि से जैन तथा निर्गुनिया संतों के हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करना अप्रासंगिक न होगा ।

निर्गुनिया संतों और जैन कवियों के लेखन में जो एक मौलिक मतभेद है, वह उनकी सैद्धान्तिक विचारधाराओं की भिन्नता के कारण है । परमात्म-तत्व की अवधारणा तथा निश्रेयस का जो साधना पथ जैन सन्तों ने बताया, वह अन्य से भिन्न है । इसी कारण उनकी अभिव्यक्ति में भी भिन्नता है, किन्तु जहां विचारों में साम्य है, वहां अभिव्यक्ति में भी समानता दृष्टिगोचर होती है ।

कबीर ने गुरु के महत्वको अत्यन्त मुखरता के साथ व्यक्त किया है । उन्होंने यहां तक कहा कि यदि गुरु और गोविन्द दोनों सामने हों तो वे पहले गुरु के ही पैर लगना चाहेंगे, क्योंकि गोविन्द को बताने वाले तो गुरु ही हैं --

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागुं पांय ।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय ।। ४५

४४- जैन पद संग्रह, भाग २, पद ४०

४५- कबीरदास, गुरुदेव को अंग, साखी १४

सुन्दरदास कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा बहुत समय तक जुदा रहे आये, दयालु गुरु ने उन दोनों को मिला दिया --

परमातम सौं आतमा जुदे रहे बहुकाल ।
सुंदर मेला कर दिया गुरु मिले दयाल ।।[४६]

दादू के 'मस्तक' पर तो ज्यों ही गुरुदेव ने प्रसाद का हाथ रखा कि 'आगम अगाध' के दर्शन हो गये ।[४७]

जैन कवि ब्रह्मजिनदास ने अपने आदिपुराण में 'मुक्ति-रमणी को प्रकट करने वाले भगवान् ऋषभदेव को सद्गुरु की कृपा से ही जानने की बात कही है ।[४८] भट्टारक शुभचन्द्र ने तो यहां तक कहा है कि सत्गुरु को मन में धारण किए बिना शुद्ध चिद्रूप का ध्यान करने से भी कुछ न होगा ।[४९] श्री कुशल-लाभ ने 'स्थूल भद्र छत्तीसी' में गुरु स्थूल भद्र के प्रसाद से 'परमसुख' का प्राप्त होना लिखा है ।[५०]

पाण्डे रूपचन्द ने लिखा है कि सतगुरु की कृपा से ही भ्रान्तिरूपी अन्धकार नष्ट हो सकता है, इस भाँति जीव अविचल ज्ञान को प्राप्त करता है ।

सोते सोते जागिया, ते नर चतुर सुजानि ।
गुरु चरणाम्बुज बोलियो, समकित भयउ विहान ।।
कालरयन तब बीतई, लगो ज्ञान सुभानु ।
भ्रान्ति तिमिर जब नाशियो, प्रगटत अविचल थान ।।[५१]

४६- सुंदरदर्शन, पृ० १७७

४७- दादू गैब माहिं गुरुदेव मिल्या, पाया इम परसाद ।
मस्तक मेरे कर धर्या देख्या आगम अगाध ।।--सन्तसुधासार, पृ० ४४६

४८- तेह गुण में जाणीया ए, सद्गुरु तणो पसावतो ।
भवि भवि स्वामी सेवसुं, ए लागु सहागुरु पायतो ।।--आदिपुराण, पृ० २०४

४९- तत्वसारदूहा

५०- स्थूलभद्र छत्तीसी, पद्य १

५१- खटोलना गीत, पृ० ७६

कबीरदास भी गुरु के इस ज्ञानप्रदाता स्वभाव से प्रसन्न हुए हैं और अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उन्होंने कहा, 'सतगुरु की महिमा अनन्त है, उन्होंने अनन्त उपकार किया है, क्योंकि उन्होंने मेरे अगणित ज्ञान चक्षुओं को खोलकर असीम ब्रह्म का दर्शन कराया है।'[५२] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा, 'मैंतो अज्ञान से भरी लौकिक मान्यताओं और पाखण्ड से ओतप्रोत वेद के पीछे चला जा रहा था कि सामने सतगुरु मिल गए और उन्होंने ज्ञान का दीपक मेरे हाथ में दे दिया।'[५३]

सतगुरु का मिलना तभी सार्थक होगा, जब कि शिष्य का हृदय भ्रम, संशय और मिथ्यात्व से ओतप्रोत न हो। यदि ऐसा होगा तो सतगुरु का उपदेश उसके हृदय में पैठेगा नहीं। यद्यपि आत्मा का स्वभाव ज्ञान है किन्तु सांसारिक मिथ्यात्व से युक्त होने के कारण उसे सतगुरु का अमृतमय उपदेश भी रुचता नहीं। इसी को पाण्डे रूपचन्द ने बड़े ही सरस ढंग से उपस्थित किया है --

चेतन अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै
अमृत वचन हितकारी, सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै
सतगुरु तुमहिं पढ़ावै चित दै, अरु तुमहूं ही ज्ञानी
तबहूं तुमहिं न क्यों हूं आवै, चेतन तत्व कहानी ।।[५४]

कबीरदास के भी ऐसे ही विचार हैं। सतगुरु बपुरा क्या कर सकता है, यदि 'सिस' ही में चूक हो। उसे चाहे जैसे समझाओ, सब व्यर्थ जायगा, ठीक वैसे ही जैसे फूंक वंशी में ठहरती नहीं, अपितु बाहर निकल जाती है।[५५]

बनारसीदास ने लिखा है,

सहजमोह जब उपशमै, रुचै सुगुरु उपदेश ।
तब विभाव भवथिति घटै, जगै ज्ञान गुण लेश ।।

५२- कबीरदास, गुरुदेव को अंग, साखी ३
५३- वही, साखी ११
५४- परमार्थ जकड़ी संग्रह, पद्य १
५५- कबीरदास, वही, साखी २१

सतगुरु की देशना आस्रवों के लिए दीवार, कर्म कपाटों को उघाड़ने वाली और मोक्ष के लिए पैड़ी का काम करती है, किन्तु केवल उन्हीं के लिए जिनकी भवथिति घट गई है, मूढ़ तो उसका लेशमात्र भी नहीं समझता ।[५६]

कवियों ने इस भव समुद्र से पार करने के लिए गुरु को जहाज़ बताया है । हेमराज कहते हैं --

चहुं गति दुःख सागर विषैं, तारन तरन जिहाज ।
रत्नत्रय निधि नग्न तन, धन्य महा मुनिराज ।।[५७]

अर्थात् इस दुःख-सागर से पार करने के लिए महामुनिराज ही जहाज़रूप हैं ।

कवि भूधरदास ने उस गुरु को मन में बसाने की अभिलाषा प्रकट की है, जो 'भव-जलधि-जिहाज' हैं । ऐसे मुनिराज गुरु स्वयं भी तिरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं ।[५८]

द्यानतराय ने लिखा है, "तारन तरन जिहाज सुगुरु है, सब कुटुम्ब डोबैं जगतोई । द्यानत निशि दिन निरमल मन में, राखो गुरु-पद पंकज दोई ।[५९]

सन्त दरिया साहब ने सतगुरु रूपी जहाज़ पर ही अधिक विश्वास किया है,[६०] उन्होंने लिखा है, "संसार रूपी दरिया भयंकर है, सतगुरुरूपी जहाज़ पर अपने प्रेम को चढ़ा कर उसे पार कर जाओ, तभी सुख-राज करने में समर्थ हो सकोगे । सन्त पलटू साहब ने भी गुरु के परोपकारी स्वभाव को समझकर ही यह कहा है कि भव-

---

५६- बनारसीविलास, पृ० १३६
५७- बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृ० ३०६
५८- भूधरविलास
५९- द्यानतविलास, पद २३
६०- संतदर्शन, पृ० २६

सागर से तरने के लिए गुरु रूपी जहाज ही सर्वोत्तम उपाय है[६१]। कबीरदास ने कहा कि जिसने गुरु रूपी जहाज को छोड़ कर अन्य किसी बेड़े से इस भव-समुद्र को पार करने का प्रयास किया, वह सर्वथा असफल रहा, और यह निश्चित है कि उसका बेड़ा किसी न किसी औघट घाट पर अवश्य डूबेगा।[६२]

गुरु ने ज्ञान ही नहीं, अपितु भक्ति भी दी है, अर्थात् गुरु की कृपा से ही शिष्य भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। पाण्डे हेमराज ने गुरु के इस भक्ति प्रदाता गुण पर विश्वास करके ही उनसे भरपूर भक्ति की याचना की है। उन्होंने गुरु का वर्णन करने में अपनी असमर्थता दिखाते हुए कहा, 'मैं गुरु का भेद कहां तक कहूं। मुझमें तो बुद्धि थोड़ी है और उनमें गुण बहुत अधिक हैं। हेमराज की तो इतनी प्रार्थना है कि इस सेवक के हृदय को भक्ति से भर दो।'[६३] कबीरदास ने तो स्पष्ट ही गुरु को भक्ति देने वाला माना है। उन्होंने कहा, 'ज्ञान भक्ति गुरु दीनी।'[६४] ज्ञान और योग के साथ-साथ भाव-भक्ति भी कबीरदास के अन्तर्जगत की अन्यतम विभूति थी। और उसको उन्होंने अपने गुरु की देन के रूप में स्वीकार किया है। उनके गुरु रामानन्द थे और उन्होंने कहा, 'भक्ति द्राविण ऊपजी लाए रामानन्द। परगट किया कबीर ने सप्तदीप नव खण्ड।'[६५] दादू साहब ने ललचाते हुए घोषित किया, 'यदि सद्गुरु मिल जाए, तो भक्ति और मुक्ति दोनों ही के भण्डार उपलब्ध हो सकते हैं। दादू का कथन है कि सतगुरु के मिलने से साहब का दीदार तो सहज में ही मिल सकता है।'[६६]

६१- भवसागर के तरन को एकहु संत जहाज। --सन्तसुधासार, खण्ड २, पृ० २६७

६२- ता का बुरा क्यों, गुरु न लसाई घाट।
ताको बेड़ा डूबिहै, फिर-फिर औघट घाट।।— कबीरदास,ग्रंथ,साखी २०

६३- कहौं कहां लौं भेद मैं, बुध थोरी गुन बूर।
हेमराज सेवक हृदय,भक्ति करो भरपूर।।--गुरु-भक्ति,जयमाला, पृ० ३१३

६४- कबीर ग्रन्थावली, पृ० २६४

६५- कबीर की विचारधारा, पृ० ३२४

जैन साहित्य में गुरु-भक्ति के अनेकानेक सरस उदाहरण उपलब्ध होते हैं। सतरहवीं शताब्दी के महाकवि समयसुन्दर गुरु राजसिंह सूरि की भक्ति में भाव-विभोर होते हुए कह उठे, मेरा आज का दिन धन्य है। हे गुरु, तेरे मुख को देखते ही जैसे मेरी तो सम्पूर्ण पुण्यदशा ही प्रकट हो गयी है। हे श्री जिनसिंहसूरि। मेरे हृदय में सदैव तू ही रहता है और स्वप्न में भी तुझे छोड़ कर अन्य दिखाई नहीं देता। मेरे लिए तो तुम ऐसे ही हो जैसे कुमुदिनी के लिए चन्द्र, जिसको दूर होते हुए भी कुमुदिनी समीप ही समझती है। तुम्हारे दर्शनों से आनन्द उत्पन्न होता है, और मेरे नेत्र प्रेम से भर जाते हैं। जीव तो सभी को प्यारा होता है, किन्तु मुझे तुम उससे भी अधिक प्रिय हो।[६७]

कुशललाभ ने आचार्य पुण्यसागर की भक्ति में जिस सरसता का परिचय दिया है वह कम ही स्थानों पर मिलती है। आषाढ़ के आते ही चौमासे का प्रारम्भ हुआ और पुण्यसागर अम्बावती में पधारे। उस समय का भक्ति से भरा एक चित्र देखिए, आषाढ़ के आते ही दामिनी कड़कने लगी, कोमल कामिनियां अपने प्रियतमों की बाट जोहने लगीं, चातक मधुर ध्वनि में 'पीउ पीउ' का उच्चारण करने लगा और सरोवर बरसात के विपुल जल से भर गये। इस अवसर पर महान् श्री पुण्यसागर जी श्रावकों को सुख देने के लिए अम्बावती में आये। वे दीक्षारमणी के साथ रमण करते हैं और उनमें हर किसी का मन बंध कर रह जाता है। उनके प्रवचन में कुछ ऐसा आकर्षण है कि उसे सुन कर वृक्ष भी झूम उठे हैं, कामिनी कोकिल सुर के ही गीत गाने लगी है, गगन गूंज उठा है और मधुर तथा कोर भी

६६- सद्गुरु मिले तो पाइये भक्ति मुक्ति भण्डार।
दाडू सहजै देखिए साहिब का दीदार।।--सन्तदर्शन, पृ० २२

६७- आज हूं धन दिन मेरउ।
पुन्य दशा प्रगटी अब मेरी, पेखतु गुरु मुख तेरउ।।
श्री जिनसिंह सूरि तूंहि मेरे चित्त में, सुपनई अवर नहीय अनेरो।
कुमुदिनि चन्द जिसउ तुम लीनउ दूर हुती तुम्ह नेरउ।।
तुम्हारउ दरसण, आणंद उपजतो, नयनको प्रेम सवेरउ।। (क्रमशः)

प्रसन्न हो कर नाच उठे हैं। गुरु के ध्यान में स्नान करके ही शीतल लहर बहने लगी है। गुरु की कीर्ति और सुयश से ही सम्पूर्ण संसार महक रहा है। विश्व के सातों क्षेत्रों में धर्म उत्पन्न हो गया है। श्रीगुरु के प्रसाद से सदा सुख उत्पन्न होता है।[६८]

श्री साधुकीर्ति ने गुरु जिनचन्द्रसूरि की भक्ति में एक राग-मल्हार का निर्माण किया था। उसमें एक शिष्य आने वाले गुरु को देखने के लिए ठीक वैसे ही बेचैन है जैसे कोई प्रोषितपतिका आने वाले पति को देखने के लिए बेचैन हो उठती है। उन्होंने कहा, 'हे सखि! मेरे लिए तो वह ही अत्यधिक सुन्दर है, जो यह बता दे कि हमारे गुरु किस मार्ग से हो कर पधारेंगे। श्रीगुरु सभी को सुहावने लगते हैं और वे जिस पुर में आ जाते हैं, वह तो जैसे 'शोभा' ही हो जाता है। उनको देख कर हर कोई जयजयकार किये बिना नहीं रहता। जो गुरु की आवाज़ को भी जानता है, वह मेरा स्वजन है। गुरु को देख कर वैसी प्रसन्नता होती है जैसे चन्द्र को देख कर चकोर को और सूर्य को देख कर कोक को। गुरु के दर्शनों से हृदय सन्तुष्ट, पुण्य पुष्ट और मन प्रसन्न होता है। अन्त में व्याकुल हो कर वह पुकार उठता है कि हे निर्द्वन्द्वी श्रीजिनचन्द्र! प्रमोदी हो कर शीघ्र ही आ जाओ, तुम्हें देख कर मेरा हृदय जैसे अनिर्वचनीय रसका ही आनन्द ले उठेगा।[६९]

इस तरह गुरु के विरह में शिष्य की बेचैनी और मिलन में अपार प्रसन्नता जैसी जैन कवि अंकित कर सके, निर्गुणिए सन्त नहीं। उन्होंने इस ओर ध्यान भी नहीं दिया। कबीर आदि संतों में भावपरकता का अभाव है और जैन कवियों की भावुकता सतगुरु के लिए भी भगवान् की भांति ही मुखर हो उठी है। शिष्य का विरह पवित्र प्रेम का द्योतक है। जैनों का सतगुरु प्रेमाराध्य भी है।

(क्रमशः) 'समयसुंदर' कहइ सब दुं खलम, जीउ दुं तिनथक थकिरउ ।। -- जिनसिंह सूरिगीतम्, ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह, पृ० १२६

६८- श्रीपुण्यरत्नगीतम्, पद ६१-६४

६९- श्री जिनचन्द्रसूरि गीतानि, ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह, पृ० ४१

सन्त साहित्य में 'सबद कौ अंग' का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। शब्द ब्रह्म को कहते हैं।

कबीरदास की दृष्टि में सतगुरु वह ही है, जो शब्द बाण को सफलता पूर्वक चला सके और जिसके लगते ही शिष्य का मोह-जाल विदीर्ण हो जाय।[७०] जैन सतगुरु बाण नहीं चलाता, अपितु उसके कोमल वचनों से ही शिष्य वीणा-नाद को सुन कर मृग की भांति रीझ जाता है। वे कोमल वचन शिष्य के हृदय से मोहरूपी विष को दूर कर देते हैं और वहां अनुभवरूपी अमृत का स्रोत बह उठता है। अनादि का तमस नष्ट हो जाता है और सुप्रकाश की लहर चल पड़ती है।[७१] अर्थात जैन शिष्य का भी मोह जाल विदीर्ण होता है किन्तु ऐसा करने के लिये जैन गुरु हिंसा का नहीं, अहिंसा का प्रयोग करता है।

७०- सतगुरु तहँ कमाण करि, बाहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या सरीर।। गुरुदेवकौ अंग, साखी ६

७१- कोमल वचन गुरु बोले मुख सेती सुध,
सुन सब रीझे रीझे ज्यूं सुनि नादिका।
अनुभव अमृत सो मोह विष दूर करे,
करे सुप्रकास तमभेटि के अनादि का। --अध्यात्म सवैया, पद्य २६

भक्ति के अन्य उपादान

जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं की तरह भक्ति या उपासना के उपादानों की क्रमशः वृद्धि होती रही है। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार नये-नये उपादान जुड़ते गये। विभिन्न परम्पराओं के पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप भी अनेक उपादान सम्मिलित हुए। सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण एवं स्वतन्त्र अनुशीलन का विषय है। यहाँ हम संक्षेप में मात्र इतना विचार करेंगे कि देव, शास्त्र, गुरु के अतिरिक्त जैन परम्परा में भक्ति के अन्य उपादान क्या हैं तथा उनके आधार-बिन्दु क्या हैं।

सामान्यतया इन उपादानों को निम्नप्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-- १- स्तूप, २- चैत्य, ३- जिन प्रतिमा, ४- जिनालय, ५- देवकुल, ६- तीर्थ।

स्तूप

जैन परम्परा में स्तूप पूजा की परम्परा सुदीर्घ प्राचीन काल से प्रचलित रही है। साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पुरातात्विक एवं अभिलेखीय आधारों से भी इस विषय में जानकारी प्राप्त होती है। आवश्यक निर्युक्ति में तीर्थंकर के निर्वाण होने पर स्तूप, चैत्य व जिनगृह निर्माण का उल्लेख है।[१]

इस पर टीका करते हुए हरिभद्र ने भ० ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनकी स्मृति में उनके पुत्र भरत द्वारा उनके निर्वाण स्थल कैलाश पर्वत पर एक चैत्य तथा सिंह-निषद्या-आयतन निर्माण कराये जाने का उल्लेख किया है।

अर्धमागधी जंबूदीवपण्णत्ति में निर्वाण के बाद तीर्थंकर के शरीर संस्कार

१- आ० निर्युक्ति गा० ४३५

तथा चैत्य-स्तूप निर्माण का विस्तार से वर्णन किया गया है।[२]

इस विवरण से स्पष्ट है कि जैन परम्परा में भी महापुरुषों की चिताओं पर स्तूप निर्माण कराये जाते थे।[३]

मथुरा के कंकाली टीला के उत्खनन में जिस जैन स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं, उसके सम्बन्ध में साहित्यिक साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं। विविधतीर्थकल्प में उसे देवनिर्मित स्तूप कहा गया है।[४]

उक्त स्तूप के प्राप्त अवशेषों में अनेक ऐसी पूजा-वेदिकाएं प्राप्त हुई हैं जिन पर अभिलेख भी उत्कीर्ण हैं। कला में इन्हें 'आयागपट' कहा गया है।[५]

स्तूप निर्माण की परम्परा जैन तथा बौद्धों में प्राचीनकाल से प्रचलित रही। बौद्ध परम्परा में इसका अधिक विस्तार हुआ। सांची, भरहुत तथा सारनाथ के स्तूप अभी भी प्रसिद्ध हैं।

जैन परम्परा में समवसरण सभाओं का जो वर्णन मिलता है, उसमें स्तूपों की भी रचना की जाती थी।

जैन आचार्यों में एक शाखा पंचस्तूपान्वय के नाम से शिलालेखों में उल्लिखित मिलती है। धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य तथा उनके शिष्य जिनसेन ने अपने को पंचस्तूपान्वयी कहा है।[६] अकबर के समय तक मथुरा में ५१५ स्तूप जीर्ण-शीर्ण अवस्था में विद्यमान थे।

धार्मिक महापुरुषों के स्मारक होने से स्तूप श्रद्धा और पूजा की वस्तु

२- बृहत्कल्पभाष्य, २।३३

३- भा० सं० में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३०२

४- द्रष्टव्य विविध तीर्थकल्प।

५- वी० ए० स्मिथ - द जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटीज़ आव मथुरा।

६- भा० सं० में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३०३

बन गयी और शताब्दियों तक स्तूप बनाने और उनकी पूजा-अर्चना किये जाने की परम्परा चालू रही।[७]

ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति शिल्प के विकास के साथ स्तूप पूजा क्रमशः कम होती गयी। 'मेरु' तथा 'मानस्तम्भ' के रूप में यह जैन परम्परा में उपासना के उपादानों में अभी भी प्रचलित है। सम्भवतया स्तूप पूजा का ही यह उत्तरकालीन विकास हो।

चैत्य

जैन परम्परा में 'चैत्य' शब्द पर्याप्त प्राचीन है। चैत्य, चैत्यवृक्ष, चैत्यगृह, चैत्यालय आदि शब्दों के साथ 'चैत्य' के अर्थ विकास और स्थापत्य विकास का इतिहास जुड़ा हुआ है।

अर्धमागधी आगमों में भगवान् महावीर की साधना के सन्दर्भ में चैत्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। उवासगदसाओ[८] में चम्पा के पूर्णभद्रचैत्य तथा वाराणसी के कोट्ठ चैत्य में महावीर के ठहरने का उल्लेख है। औपपातिक सूत्र[९] में पूर्णभद्र चैत्य का विस्तृत वर्णन है।

समवसरण की रचना में चैत्य वृक्षों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। यतिवृषभ ने चैत्यवृक्षों का विस्तृत वर्णन किया है।[१०]

जिनसेन ने ऋषभदेव के समवसरण के चैत्यवृक्षों का सुन्दर वर्णन किया है।[११]

अशोक नामक वृक्ष के नीचे तीर्थंकर को केवलज्ञान प्राप्त होने का वर्णन

७- मा० सं० में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३०२

८- उवासगदसाओ, १।१, १।२

९- औपपातिकसूत्र, २

१०- तिलोयपण्णत्ति, भाग १, ३।३६-३७

११- आदिपुराण, २२।१८६-९४

मिलता है। अनुमानतः इसी कारण वृक्षों के नीचे प्रतिमाएं स्थापित करने की परम्परा प्रारम्भ हुई।[१२]

'चैत्य' शब्द प्रतिमा के अर्थ में कब से व्यवहृत हुआ, यह स्वतन्त्र अनुशीलन का विषय है, किन्तु इतना अवश्य है कि 'चैत्य' का प्रतिमा के अर्थ में प्रयोग के उपरान्त ही चैत्यालय या चैत्यसदन जैसे शब्द प्रयोग में आये।

प्राकृत, संस्कृत वाङ्मय में चैत्य भक्ति विषयक पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है।

कुन्दकुन्द ने प्राकृत में तथा पूज्यपाद ने चैत्य भक्ति की स्वतन्त्र रचना की है।[१३] पूज्यपाद ने लिखा है कि लोक में जितने भी कृत्रिम अकृत्रिम चैत्य हैं, उन सभी की वन्दना करता हूं।[१४]

शान्तिसूरि ने 'चेइयवंदणमहाभास' तथा देवेन्द्रसूरि ने 'शाश्वतचैत्यस्तव' की रचना की है।

शिल्प में चैत्यवृक्षों पर जिनप्रतिमाओं के अंकन प्राप्त होते हैं।

जिन प्रतिमा

चैत्य शब्द का प्रतिमा के अर्थ में कब से प्रयोग प्रारम्भ हुआ, यह विचारणीय हो सकता है, किन्तु यह निःसन्देह है कि जिन प्रतिमा का निर्माण पर्याप्त प्राचीन काल से होने लगा था। ये भक्ति के महत्वपूर्ण उपादान थे।

महावीर के जीवनकाल में उनकी प्रतिमा का निर्माण कर उसकी पूजा की जाने लगी थी, इस प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं। उत्तरकाल में प्राप्त इस प्रकार की

१२- मा० सं० में जैनधर्म का योगदान, पृ० ३०१

१३- भक्तिसंग्रहो, चैत्यभक्ति। दशभक्त्यादिसंग्रह, चैत्यभक्ति।

१४- यावन्ति सन्ति लोकेऽस्मिन्नकृतानि कृतानि च।
तानि सर्वाणि चैत्यानि वन्दे भूयांसि भूतये॥ -- चैत्यभक्ति, श्लो० १

प्रतिमाओं को `जीवन्तस्वामी` कहा गया है ।[१५]

जिन-प्रतिमा का निर्माणकर्म में बिना लांछन के किया जाता था, बाद में प्रत्येक तीर्थंकर के स्वतन्त्र चिह्नों के साथ प्रतिमाएं बनने लगीं । चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता रहा है ।

मूर्तिपूजा के सन्दर्भ में इसबात पर विशेष रूप से विचार किया गया है कि किस प्रकार मूर्तिपूजा का क्रमशः आधिक्य हुआ तथा किस तरह उसके साथ बाह्य आडम्बर एवं क्रिया काण्ड शामिल होते गये ।

दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओं के अतिरिक्त देश भेद से भी प्रतिमा की पूजा-भक्ति करने की प्रक्रिया में भेद पाया जाता है ।

मूर्तियों के चिह्न रहित निर्माण से ले कर यक्ष-यक्षी तथा अन्य परिकर के साथ निर्माण का अपना एक विशेष इतिहास है, जो स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा रखता है ।

चैत्यालय । जिनालय

जिन-प्रतिमा की तरह जिनालय भक्ति के अत्यन्त महत्वपूर्ण उपादान माने गये हैं । महावीर के समय (ईसापूर्व छठी शती) में यक्षायतनों के उल्लेख मिलते हैं । जिन-चैत्य या जिन-प्रतिमा के निर्माण के साथ मन्दिरवास्तु का जैसे-जैसे विकास हुआ, जिनालय या जिन-मन्दिर भक्ति तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के महत्वपूर्ण केन्द्र बनते गये ।

जिनालयों का महत्व इसलिए और अधिक बढ़ गया, क्योंकि उन्हीं के साथ साधु संघ के आवास तथा जिनवाणी के संरक्षण को भी जोड़ दिया गया । इस तरह तीनों -- देव, शास्त्र और गुरु -- उपास्य एक साथ एक स्थल पर उपलब्ध होने लगे ।

जिनालयों में भक्तों को अपनी नाना रूपा भक्ति प्रकट करने में भी

१५- द्रष्टव्य - डाक्टर यू० पी० शाह - स्टडीज़ इन जैन आर्ट ।

सरलता होती थी, होती है, इसलिए ये भक्ति के केन्द्र बन गये। भजन, पूजन, कीर्तन, संगीत, नृत्य, नाट्य सभी का आयोजन मन्दिरों में होने लगा था। किसी काल में यह इतना अधिक बढ़ गया कि इसे बन्द करने के भी प्रयत्न किये गये।

बारहवीं शताब्दी में विरचित खरतरगच्छ पट्टावली के आधार पर विदित है कि उस समय जैनों में रास नाटकों के अभिनय की अधिकता थी। किन्तु अभिनेताओं की मनोवृत्तियों में भक्ति के स्थान पर उच्छृंखलता बढ़ने लगी थी। आचार्य जिनवल्लभ सूरि (वि० सं० ११६७) ने जैन मन्दिरों में लगुड रास और ताल रास को वर्जित घोषित किया था। इन रासों के अभिनेताओं की चेष्टाएं विटों की-सी होतीं। कभी-कभी प्रमादवश सिर मेंचोट भी लग जाती और पाठ भी दुष्ट होता था[१६]।

देवकुल

जैन परम्परा में जिन के समान अन्य किसी भी देवी-देवता को महत्व प्राप्त नहीं है, क्योंकि अन्य किसी भी देवी-देवता को राग-द्वेष संसर्गथा मुक्त परम वीतरागी नहीं माना जाता। इस कारण अन्य देवी या देवता की भक्ति को 'देव भक्ति' के अन्तर्गत रखा गया है।

सैद्धान्तिक रूप से उपर्युक्त मान्यता रहने पर भी धीरे-धीरे जैन परम्परा में अनेक देवी-देवता स्वीकृत होते गये और कालान्तर में उनकी मूर्ति-पूजा भी आरम्भ हो गयी[१७]।

प्रत्येक तीर्थंकर के साथ एक यक्ष तथा एक यक्षी उनके शासनदेव के रूप में उपरान्त में स्वीकृत हो गये और तीर्थंकर मूर्तियों की तरह उनकी भी मूर्तियों का निर्माण होने लगा।

तीर्थंकरों से सम्बद्ध यक्ष-यक्षी के अतिरिक्त भी अनेक अन्य देवी-देवताओं

१६-अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० १२, ४७

१७-द्र०, यू० पी० शाह - इंट्रोडक्शन आफ शासन देवताज़ इन जैन वरशिप।

को मान्य कर लिया गया है। इनमें कई परम्पराओं के देव मण्डल से देवी-देवता लिये गये हैं।[१८]

जैन परम्परा में इनकी मान्यता 'शक्ति की उपासना' के प्रभाव के कारण हुई या अन्य सांस्कृतिक कारणों से, यह अनुशीलन का एक महत्वपूर्ण विषय है।

तीर्थक्षेत्र

भक्ति के उपादानों में तीर्थक्षेत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्यों ने तीर्थवन्दन की महिमा का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है।

तीर्थक्षेत्रों के अन्तर्गत सर्वप्रथम उन स्थलों की गणना की जाती है, जहां से तीर्थंकर या अन्य मुनि मुक्त हुए अर्थात् निर्वाण को प्राप्त हुए। सिद्ध होने के कारण इन क्षेत्रों को सिद्धक्षेत्र भी कहा जाता है।

कुन्दकुन्द ने प्राकृत में तथा पूज्यपाद ने संस्कृत में निर्वाण भक्तियों की रचना की है। यशकीर्ति ने अपभ्रंश में निर्वाण भक्ति लिखी है। कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जो जिन जहां-जहां से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, मैं उनकी वन्दना करता हूं, त्रिकरण -- मन, वचन, काय से शुद्ध हो कर उन्हें नमस्कार करता हूं। शेष मुनियों का निर्वाण जिस-जिस स्थान पर हुआ है, उन सबको मैं दुःखों का क्षय करने के लिए नमस्कार करता हूं।[१९]

निर्वाण भक्ति में उन स्थलों का उल्लेख भी किया गया है जहां से तीर्थंकर या मुनि सिद्ध हुए हैं। कुन्दकुन्द ने लिखा है -- अष्टापद से ऋषभ, चम्पा

१८- विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य - बालचन्द्र जैन, जैन प्रतिमा विज्ञान।

१९- जे जिणा जित्तु तत्था जे हु गया णिव्वुदिं परमं।
ते वंदामि य णिच्चं तियरणसुद्धो णमंसामि ।।
सेसाणं हु रिसीणं णिव्वाणं जम्मि जम्मि ठाणम्मि।
ते हं वंदे सव्वे दुक्खक्खयकारणट्ठाए ।। -- निर्वाणभक्ति, गा० २०-२१

से वासुपूज्य, ऊर्जयन्त से नेमि तथा पावा से महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए। शेष बीस जिन सम्मेदगिरिशिखर से निर्वाण को प्राप्त हुए, उनको हमारा नमस्कार हो।[२०]

निर्वाण क्षेत्रों के अतिरिक्त तीर्थंकरों के जन्म आदि कल्याणकों तथा अन्य विशिष्ट घटनाओं से सम्बद्ध स्थानों को भी तीर्थक्षेत्र माना गया है। ऐसे स्थलों को अतिशय क्षेत्र कहा गया है।[२१]

नन्दीश्वर

जैन परम्परा में नन्दीश्वर भक्ति भी पर्याप्त प्राचीन काल से प्रचलित है और अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। पौराणिक विवरणों के अनुसार नन्दीश्वर नाम का एक द्वीप है जहां अनेक जिन चैत्य और चैत्यालय हैं। ये अकृत्रिम अर्थात् स्वतः निर्मित हैं। इसका जो पौराणिक वर्णन प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है --

जैन-शास्त्रों के अनुसार, मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। वे एक दूसरे को घेरे हुए, दुने विस्तार और चूड़ी के आकार वाले हैं। उन सबके मध्य में जम्बूद्वीप है, उसका विस्तार एक लाख योजन है, उसे दो लाख योजन का लवण समुद्र घेरे हुए है। इसी क्रम से आठवां द्वीप, नन्दीश्वर द्वीप है। उसका विस्तार एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है, वह नन्दीश्वर समुद्र से घिरा हुआ है।

२०- अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
ऊज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो॥
वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥-- निर्वाणभक्ति, गा० १-२

२१- पंचकल्लाणठाणइ जाणिवि संवाचमच्छलोयम्मि।
मणवयणकायसुद्धो सव्वे सिरसा णमंसामि॥
णिव्वाणठाण जाणिवि अइसयठाणाणि अवरे वि सत्थिा।
संवादमच्छलोए सव्वे सिरसा णमंसामि॥-- वही (इन गाथाओं को सम्पादक ने प्रक्षिप्त कहा है।)

उसकी चार दिशाओं में काले वर्ण के चार अंजनगिरि हैं। जिनमें से प्रत्येक ८४००० योजन ऊंचा है। इनके चारों ओर चार-चार जलवापिकाएं हैं, जो एक लाख योजन लम्बी-चौड़ी हैं। इन सोलह वापिकाओं के मध्य में सफेद रंग के दधिमुख पर्वत हैं, जो दस-दस सहस्र योजन ऊंचे हैं। प्रत्येक जलवापिका के बाहर के कोने में लाल वर्ण के दो-दो रतिकर पर्वत हैं, वे एक-एक सहस्र योजन ऊंचे हैं।

इस प्रकार चार अंजनगिरि, सोलह दधिमुख और बत्तीस रतिकर पर्वतों का योग बावन होता है। इनमें प्रत्येक पर एक-एक विशाल जिन मन्दिर है, सभी अकृत्रिम हैं, और अनादि काल से बने आ रहे हैं। हरेक जिनमन्दिर ७२ योजन ऊंचा है, उनमें पांच सौ धनुष ऊंची जिन-प्रतिमाएं विराजमान हैं।[२२]

कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम आठ दिनों में, सौधर्म प्रमुख विबुधपति, नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं और दिव्य अक्षत, गन्ध और पुष्प तथा धूप आदि द्रव्य से उन अप्रतिम प्रतिमाओं की पूजा करते हैं[२३]। मध्यलोक के अन्य द्वीपों के साधारण जीव वहां नहीं जा सकते। वे वहां पर ही अपने मन्दिरों में नन्दीश्वर द्वीप का चित्र बनाते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिमाओं की स्थापना करके पूजा-अर्चा करते हैं। यही नन्दीश्वर भक्ति है। पूज्यपाद ने इसी भक्ति में आठ प्रातिहार्य और ३४ अतिशयों का वर्णन किया है।[२४]

नन्दीश्वर द्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयों को नमस्कार करते हुए पूज्यपाद ने

२२- तिलोयपण्णत्ति : भाग २, ५।५२-११५

२३- आषाढ़कार्तिकारण्ये फाल्गुनमासे च शुक्लपक्षेऽष्टम्याः।
आरभ्याष्टदिनेषु च सौधर्मप्रमुखविबुधपतयो भक्त्या ।।
तेषु महामहपूजां प्रकुर्वते पारतान्यपुष्पाक्षतैर्दिव्यैः
सर्वज्ञप्रतिमानामप्रतिमानां प्रहर्षते सर्वहितम् ।।--पूज्यपाद, नन्दीश्वरभक्ति, श्लो० १३-१४।

२४- वही, श्लोक ३८-५६

लिखा है,[२४] जिनमें भगवान् जिनेन्द्र की पांच सौ धनुष ऊंची मणि-स्वर्ण और चांदी से बनी हुई करोड़ों सूर्यों की प्रभा से भी अधिक प्रभावाली प्रतिमाएं विराजमान हैं, उन चैत्यालयों को मैं नमस्कार करता हूं। वे भानु के विमान के समान देदीप्यमान, अद्वितीय, यश और तेज के अधिष्ठान रूप हैं। उनके दर्शनों से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि जो प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या, तीनों ही काल, नन्दीश्वर की भक्ति में स्तोत्र-पाठ करता है, वह अनन्त काल तक रहने वाले मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[२५]

जिनप्रभसूरि ने लिखा है कि नन्दीश्वर की भक्ति से मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त होती है[२६]। कनककीर्ति ने नन्दीश्वर द्वीप-पूजा अपभ्रंश में और अष्टाह्निक-पूजा प्राकृत में लिखी है।

२४- येषु जिनानां प्रतिमाः पंचशतशरासनोच्छ्रिताः सत्प्रतिमाः।
मणिकनकरजतविकृता अनेकरकोटिप्रभाधिक प्रभदेहाः ॥
तानि सदा वन्देऽहं भानुप्रतिमानि यानि कानि च तानि।
यशसां भसां प्रतिविशमतिशयतेजोविमानि पापविमंचि ॥-- पूज्यपाद, नन्दीश्वरभक्तिः, श्लोक २५-२६।

२५- सन्ध्यासु तिसृषु नित्यं पठेयुरि स्तोत्रमेतदुपयुक्ताम्।
सर्वज्ञानां सार्वं लघु लभते श्रुतधरोदितं पदमभितम् ॥-- वही, पद्य ३७

२६- सर्व-द्वीप-जिनार्चनोपवासान् कुरुतिथौ।
कुर्वन्नन्दीश्वरोपास्त्यै श्रायसीं श्रियमर्वयेत ॥--नन्दीश्वरद्वीपकल्पः विविधतीर्थ-कल्प, श्लोक ४६।

जैन धर्म में मूर्ति पूजा : ऐतिहासिक और समीक्षात्मक दृष्टि

जैन परम्परा में भक्ति के प्रमुख अंग के रूप में मूर्ति पूजा का महत्व क्रमशः किस प्रकार बढ़ता गया और पूजा पद्धति में किस तरह वैदिक या श्रौत-स्मार्त क्रिया-काण्ड सम्मिलित होते गये, इसका ऐतिहासिक पर्यालोचन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। अतएव यहां उस पर स्वतन्त्र रूप से विचार करेंगे।

सोमदेव ने उपासकाध्ययन में तथा पद्मनन्दी ने पंचविंशतिका में गृहस्थों के दैनिक षट्कर्म इस प्रकार बताये हैं[१] --

१- देवपूजा, २- गुरु की उपासना, ३- स्वाध्याय
४- संयम, ५- तप ६- दान

प्राचीन ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि इन षट् कर्मों का क्रमशः विस्तार हुआ है। पहले दान, पूजा, तप और शील को ही श्रावक का कर्तव्य माना जाता था।

चरित प्राभृत, वरांग-चरित और हरिवंशपुराण में दान, पूजा, तप और शील को श्रावकों का कर्तव्य बतलाया है। आदिपुराण में जिनसेन ने लिखा है कि महाराज भरत ने पूजा, वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप को व्रती लोगों का कुलधर्म बतलाया[२]।

१- देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ।। --उपासकाध्ययन, क० ४६, श्लो० ६११

२- इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ।।
कुलधर्मो यमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम्।
तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात् ।। -- आदिपुराण, २४-२५

उत्तरकाल में शील का विश्लेषण वार्ता, स्वाध्याय और संयम के रूप में हुआ तथा बाद में वार्ता के स्थान में गुरुसेवा आयी और इस प्रकार देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये प्रत्येक श्रावक के दैनिक षट्कर्म कहलाये ।

अमितगति ने छह आवश्यक इस प्रकार बताये हैं[३] --

१- सामायिक , २- स्तवन , ३- वन्दना
४- प्रतिक्रमण , ५- प्रत्याख्यान ६- कायोत्सर्ग

यही आवश्यक मुनियों के मूलगुणों में गिनाये गये हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में श्रावक के लिए यही दैनिक छह आवश्यक कर्म थे । बाद में इन्हीं के स्थान पर देवपूजा, गुरुपास्ति आदि छह कर्मों का विधान किया गया ।

जैन धर्म में मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में भारतीय मूर्तिविज्ञान के विशेषज्ञों की धारणा है कि भारत में मूर्तिपूजा का प्रारम्भ जैन परम्परा से हुआ ।[४]

जैन धर्म में प्राचीन काल में चैत्य और स्तूप की पूजा की जाती थी । 'जिन-चैत्यों' के अनेक प्राचीन उल्लेख प्राप्त होते हैं । मथुरा के कंकाली टीला के उत्खनन में जिस जैन-स्तूप[५] के अवशेष प्राप्त हुए हैं, उसे विविध तीर्थकल्प में देवनिर्मित स्तूप कहा गया है। इससे उसकी प्राचीनता का पता चलता है ।

चैत्य पूजा से चैत्यवृक्ष, चैत्यगृह, चैत्यालय तथा अन्ततः विशालकाय जिन मन्दिर विकसित हुए । सम्पूर्ण भारत में उपलब्ध प्राचीन एवं नवीन शिल्प-निर्मितियाँ इसके प्रत्यक्ष निदर्शन हैं ।[६]

३- अमित० श्राव०, ८

४- द्रष्टव्य - मटशाली, जैन आइकोनोग्राफी

५- द्रष्टव्य - स्मिथ, जैन स्तूप आफ मथुरा ।

६- द्रष्टव्य - जैन आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर

जैन धर्म में मूर्ति पूजा का विचार दो दृष्टियों से करना आवश्यक है -- एक तो ऐतिहासिक दृष्टि से, दूसरा उपासनापद्धति की दृष्टि से । आगे के पृष्ठों में हम दोनों दृष्टियों से विचार करेंगे ।

सोमदेव ने दो प्रकार की पूजा का उल्लेख किया है [७] --

१- अतदाकार

२- तदाकार

अतदाकार पूजन के अन्तर्गत सोमदेव ने भक्तियों का वर्णन किया है । इस के लिए मूर्ति की अनिवार्यता सम्भवतः नहीं है, किन्तु सोमदेव ने जो विवरण दिया है, उससे यह बात स्पष्ट नहीं होती । इसके विपरीत उन्होंने फल, पत्र आदि में मूर्ति की स्थापना को अतदाकार स्थापना कहा है ।

अमितगति ने पूजा के द्रव्यपूजा और भावपूजा, ये दो भेद किये हैं और कहा है कि वचन और शरीर को जिनभक्ति में लगाना द्रव्यपूजा है और मन को लगाना भावपूजा है । अथवा गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, अक्षत आदि से जिनपूजन करना द्रव्यपूजा है और मन को उसमें लगाना भावपूजा है । [८]

पूजा के उक्त प्रकार अमितगति के पूर्व किसी श्रावकाचारमें प्राप्त नहीं होते ।

अमितगति ने लिखा है कि प्राचीन आचार्यों ने `वचोविग्रहसंकोच` को द्रव्यपूजा तथा मानससंकोच को भावपूजा कहा है ।

अथवा गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, अक्षत आदि के द्वारा की गयी पूजा द्रव्यपूजा है । अनुरागपूर्वक जिनेन्द्रदेव के व्यापक, एवं विशुद्ध गुणों का अनुध्यान करना भावपूजा है ।

पद्मनन्दि ने लिखा है [१०] कि जो जिनदेव का दर्शन करते हैं, भक्ति से पूजा,

---

७- सोम० उपा०, पृ० २१७

८- अमित० श्राव० १२

९- वही, १२।१२-१५

१०-पद्म० पं०, ६।१४-१५

स्तुति करते हैं, वे तीनों लोकों में दर्शनीय, पूज्य और स्तुत्य होजाते हैं।

जो जिनदर्शन नहीं करते, न पूजा, स्तुति करते हैं, उनका जीवन निष्फल है। उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है।

धर्म और स्तुति के उपासकों को प्रात: उठ कर देवता और गुरु का दर्शन करना चाहिए। भक्ति से उनकीवन्दना करनी चाहिए। उसके बाद अन्य कर्तव्य कार्यों को करना चाहिए। क्योंकि विद्वानों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में सर्वप्रथम धर्म को कहा है[११]।

मूर्तिपूजन के सम्बन्ध में सोमदेव ने [illegible] उपासकाध्ययन में जो जानकारी और सामग्री प्रस्तुत की है, उसे ऐतिहासिक दृष्टि से जांचने-देखने पर अनेक नये तथ्य सामने आते हैं। सोमदेव से पूर्व किसी ग्रन्थ में पूजा तथा पूजा-विधि का इतना विस्तृत और स्पष्ट विवरण दिखायी नहीं देता।

कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय[१२] में अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्ति का निर्देश किया है, तथा प्रवचनसार[१३] में ज्ञेता, यति और गुरु की पूजा का निर्देश किया है।

दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के खारवेल के शिलालेख में अग्रजिन की मूर्ति का उल्लेख है, जिसे मगध नरेश नन्द कलिंग जीतने पर पाटलिपुत्र ले गया था और जिसे खारवेल ने मगध पर चढाई करके पुन: प्राप्त किया था[१४]।

लोहानीपुर से प्राप्त एक मौर्यकालीन जैन मूर्ति पटना संग्रहालय में सुरक्षित है[१५]।

११- पद्म० पं०, ६।१६-१७

१२- पंचास्तिकाय, गा० १६६

१३- प्रवचनसार, गा० १।६६

१४- मा० सं० जैन धर्म का योगदान, पृ० ३३

१५- वही, पृ० ३२०

इसी प्रकार की मूर्ति का कबन्ध सिन्धु घाटी के उत्खनन में हड़प्पा से, प्राप्त हुआ है। इसका समय ईस्वी सन् से २४००-२००० वर्ष पूर्व अनुमान किया गया है। भारतीय पुरातत्व विभाग के तत्कालीन संयुक्त निर्देशक श्री टी० एन० रामचन्द्रन ने जैन तीर्थंकर की मूर्ति माना है। इससे स्पष्ट है कि जैन धर्म के साथ उसकी मूर्ति-पूजा भी बहुत प्राचीन है।[१६]

वैदिक काल में वैदिकों के द्वारा अग्नि, सूर्य, वरुण आदि देवताओं की पूजा अग्नि में घी, अन्न आदि की आहुति दे कर भावात्मक रूप में की जाती थी। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मूर्तिपूजक नहीं थे। सम्भवतया जब अहिंसा सिद्धांत तथा उपनिषदों के परब्रह्म के विचारों के कारण वैदिक यज्ञों का लोप हो चला तो वैदिक ऋषियों ने इस देश के प्राचीन निवासियों में प्रचलित मूर्तिपूजा को अपना लिया और मध्यकाल में उसका व्यापक प्रचार हो गया।

वराहमिहिर (पाँचवीं शताब्दी) ने विभिन्न देवताओं को पूजने वाले सम्प्रदायों का उल्लेख किया है[१७] तथा अठावनवें अध्याय में राम, विष्णु, बलदेव, एकानंशा(१) ब्रह्मा, स्कन्द, शिव, गिरिजा, बुद्ध, जिन, सूर्य, माता, यम, वरुण और कुबेर की मूर्तियों का वर्णन किया है[१८]। इससे स्पष्ट है कि उस काल में इन देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी।[१९]

जैनाचार्य रविषेण (७वीं शती) ने पद्मपुराण में लिखा है कि "जो जिन भगवान् की आकृति के अनुरूप जिनबिम्ब बनवाता है तथा जिन भगवान् की पूजा और स्तुति करता है उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।"[२०]

१६- भा० सं० जैन धर्म का योगदान, पृ० ३४२।

१७- वराहमिहिर, बृहत्संहिता, ६०, १६

१८- वही, अध्याय ५८

१९- उपा० प्रस्ता०, पृ० ४७

२०- पद्मचरित, १४।२१३

इसी प्रकार उक्त शताब्दी में रचे गये अध्यात्म ग्रन्थ जोइन्दु के 'परमात्म-प्रकाश' में लिखा है कि तुने न तो मुनिवरों को दान ही दिया, न जिन भगवान् की पूजा ही की और न पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया, तब तुझे मोक्ष का लाभ कैसे होगा।[२१]

वरांग (७वीं शती) में जटासिंह नन्दी ने जिन पूजा के माहात्म्य के साथ-साथ जिनबिम्ब और जिनालय निर्माण का बहुत महत्व बतलाया है तथा जैन पूजा-महोत्सव का सुन्दर चित्रण किया है। उनसे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय मन्दिरों की भित्तियों पर पौराणिक उपाख्यान चित्रित किये जातेथेऔर राज्यों की ओर से मन्दिरों को पूजा के निमित्त ग्राम आदि दान में दिये जाते थे।[२२]

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होने तथा मन्दिर और मूर्तियों के तोड़े जाने की प्रतिक्रिया के रूप में भारत में मन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माण पर पहले से भी अधिक बल दिया गया।

अमितगति ने लिखा है कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् की अंगुष्ठ प्रमाण प्रतिमा बनवाता है, वह भी अविनाशी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।[२३]

पद्मनन्दि ने उनसे भी आगे बढ़कर कहा है कि जो बिल्वपत्र के प्रमाण जिनमन्दिर बना कर उसमें जव बराबर जिन प्रतिमा की भक्ति पूर्वक स्थापना करते हैं, उनके पुण्य का वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती, फिर जो बड़ा मन्दिर और बड़ी प्रतिमा बनवाये उनका तो कहना ही क्या।[२४]

२१- परमात्मप्रकाश, १६८

२२- वरांगचरित, २३।६१

२३- सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लो० ८७६

२४- पद्मनन्दि पंच०, २२

वसुनन्दि (१२वीं शती) ने पद्मनन्दि से भी आगे कहा, जो कुन्थुम्भरि के पत्र बराबर जिनमन्दिर बनवा कर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा की स्थापना करता है वह मनुष्य तीर्थंकर पद के योग्य पुण्य बन्ध करता है।[२५]

पद्मनन्दि और वसुनन्दि ने जिनपूजा आदि का विवेचन[२५] किया है, उनका महत्त्व प्रतिपादित किया है तथा उस पर बल भी दिया है।

सागारधर्मामृत में आशाधर ने संक्षेप में जिनमन्दिरों की आवश्यकता और जिनपूजा की विधि बतलायी है तथा जिन-बिम्ब, जिनालय, वसतिका और स्वाध्याय शाला बनवाना पाक्षिक श्रावकों का कर्तव्य बतलाया है।

सावयधम्मदोहा में जिनबिम्ब और जिन-मन्दिर के निर्माण के साथ जिन मन्दिर में सफेदी कराने, जिनेन्द्रदेव पर चन्दोआ व चढ़ाने, आरती करने और तिलक चढ़ाने का माहात्म्य बतलाया है[२६]।

राजमल्ल (१७वीं शती) ने लाटीसंहिता में जिनमन्दिर, अर्हन्त और सिद्धों की प्रतिमाएं तथा यन्त्र आदि बनाने का विधान किया है और लिखा है कि जिन-बिम्ब महोत्सव आदि कराने में कभी शिथिलता नहीं करना चाहिए। तत्वज्ञों को तो विशेष रूप से नित्य-नैमित्तिक महोत्सव करने-कराने चाहिए।[२७]

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म में मूर्तिपूजा की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही थी। उत्तरकाल में जिन प्रतिमाओं और जिनमन्दिरों का निर्माण बहुतायत से होने लगा। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद का युग इन प्रवृत्तियों के चरमोत्कर्ष का समय रहा। इसी युग में प्रतिष्ठा-पाठों आदि की रचनाएं की गयीं।

२५-वसुनन्दि श्राव० ४८१

२६-सावयधम्मदोहा, १९३-९४

२७-लाटीसंहिता, ३७

पूजा विषयक साहित्य भी इस युग में विशेष रूप से लिखा गया।

प्राचीन समय में मुनियों और आचार्यों का बाहुल्य होने से श्रावक उनके सान्निध्य का लाभ उठा लेते थे। धर्म की स्थिरता का यह एक बड़ा आधार था। बाद के युग में मुनिसंघों की विरलता होती गयी और श्रावकों को धर्म में स्थिर करने के लिए मन्दिर आदि के निर्माण पर अधिक जोर दिया गया।[२८]

पात्रकेसरिस्तोत्र में लिखा है कि भगवान्! जिनबिम्ब का निर्माण, दान और पूजन आदि क्रियाएं, जो कि अनेक प्राणियों के मरण और पीड़ा की कारण हैं, आपने उनका उपदेश नहीं किया। किन्तु भक्तिवश श्रावकों ने ही स्वयं उन्हें किया है। आगे लिखा है -- अथवा, भगवन् आपने या आपके उपदेश का प्रचार करने वाले गणधर आदि ने पर्याय रूप से चैत्य निर्माण और दान का उपदेश दिया है। तीर्थंकर नाम कर्म के कारण ऐसा उपदेश देना सम्भव है[२९]।

अर्हत्पूजा को सोलह कारण भावनाओं में गिनाया गया है।

समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक में अर्हन्त देव के चरणोंकी प्रतिदिन आदरपूर्वक पूजा करने का विधान किया है। लिखा है, इच्छित वस्तु को देने वाले और कामविकार को जलाने वाले अर्हन्त देव के चरणोंकी पूजा आदर-पूर्वक प्रतिदिन करनी चाहिए। उससे समस्त दुःखों का नाश होता है। अर्हन्त भगवान् के चरणोंकी पूजा का महत्व तो आनन्द से उन्मत्त मेंढक ने एक फूल ले कर राजगृही नगरी में बतलाया था।[३०]

पूजा के भेद

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में पूजा के चार भेद बतलाये हैं[३१] --

---

२८- पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, उपा० प्रस्ता० ४६

२९- पात्रकेसरी स्तोत्र

३०- अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।
मेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ।।--रत्नकर० १२०

(१) नित्य पूजा, (२) चतुर्मुख पूजा, (३) कल्पद्रुम पूजा और (४) अष्टाह्निक पूजा।

प्रतिदिन अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जा कर जिनालय में अर्हन्तदेव का पूजन करना नित्यपूजा अथवा भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेव की प्रतिमा और मन्दिर का निर्माण कराना तथा दानपत्र लिख कर ग्राम, खेत आदि का दान देना नित्यपूजा है। प्रतिदिन शक्ति के अनुसार नित्य दान देते हुए मुनियों की पूजा करना भी नित्य पूजा है।[३२]

महामुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो महापूजा की जाती है उसे चतुर्मुख या सर्वतोभद्र कहते हैं।[३३]

चक्रवर्तियों के द्वारा किमिच्छिक दान पूर्वक जगत के सब जीवोंके मनोरथों को पूरा करके जो पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम पूजा कहते हैं।[३४]

आष्टाह्निक पूजा सार्वजनिक रूढ़ ही है। इन्द्रराज के द्वारा की गयी पूजा ऐन्द्रध्वज कहलाती है।[३५]

आशाधर ने आदिपुराण की तरह ही पूजा के नित्यमह आदि भेदों का विवेचन किया है। सागारधर्मामृत की संस्कृत टीका में आदिपुराण के श्लोकों को भी उद्धृत किया है।

आशा-धर ने लिखा है कि श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार नित्यमह आदि के द्वारा अर्हन्त देव की पूजा करनी चाहिए। क्योंकि 'मैं अर्हन्तदेव की पूजा करूँ' इस प्रकार के विचार मात्र से भी जिनेन्द्रदेव का पूजक मेंढक की तरह स्वर्ग में महर्द्धिक देवों के द्वारा पूजा जाता है।[३६]

३१- प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्।
चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाह्निको ऽपि च ।।-- आदिपु० ३८।२६

३२- वही, ३८।२७-२९

३३- वही, ३८।३०

३४- वही, ३८।३१

३५- वही, ३८।३२

नित्यमहपूजा

प्रतिदिन अपने घर से लाये गये जल, चन्दन, अक्षत आदि के द्वारा जिनालय में जिन भगवान् की पूजा करना, अथवा अपने धन से जिनबिम्ब--जिनालय आदि का बनवाना, अथवा भक्तिपूर्वक गाँव, मकान, जमीन आदि शासन के विधान के अनुसार रजिस्ट्री आदि करा कर मन्दिर के निमित्त देना, अथवा अपने भी घर में तीनों सन्ध्याओं को अर्हन्तदेव की आराधना करना और मुनियों का प्रतिदिन भक्तिपूर्वक आहारदान देना नित्यमह कहा है।[३७]

आष्टाह्निक या ऐन्द्रध्वजपूजा

भव्य जीवों के द्वारा नन्दीश्वर पर्व में अर्थात् प्रति वर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन के शुक्ल पक्ष के अष्टमी आदि आठ दिनोंमें जो जिन पूजा की जाती है वह अष्टाह्निकमह है। इन्द्र-प्रतीन्द्र सामानिक आदि के द्वारा साध्य होने से इस पूजा को ऐन्द्रध्वजमह कहते हैं।[३८]

सर्वतोभद्र या चतुर्मुख पूजा

मण्डलेश्वर राजाओं के द्वारा भक्तिपूर्वक जो जिन-पूजा की जाती है उसके नाम सर्वतोभद्र, चतुर्मुख और महामह है।[३९]

कल्पद्रुम पूजा

'क्या चाहते हो' इस प्रकार के प्रश्नपूर्वक याचक की इच्छा के अनुरूप दान

३६- यथाशक्ति यतेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः।
संकल्पतोऽपि तं यष्टा मेरुवत् सुरमेधीयते ।।-- सागार ध०, २।२४

३७- वही, २।२५

३८- वही, २।२६

३९- वही, २।२७

के द्वारा लोगों के मनोरथों को पूरा करके चक्रवर्ती के द्वारा जो जिनपूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम कहते हैं ।[४०]

इस प्रकार चार प्रकार की पूजाओं का वर्णन करके आशाधर ने आगे लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान् के भक्त श्रावक प्रतिदिन या कुछ पर्व के अवसरों पर जो उपहार, अभिषेक, गीत-नृत्य आदि करते हैं वे सब यथायोग्य उन्हीं नित्यमह आदि में अन्तर्भूत होते हैं । अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् को लक्ष्य करके जो भी भक्ति प्रदर्शित की जाती है, चाहे वह भेंट रूप में हो या गीत-नृत्य आदि के रूप में हो । विद्वान् उन सबको नित्य पूजा आदि के ही भेद मानते हैं ।[४१]

पूजा-विधि

सोमदेव ने उपासकाध्ययन में पूजा की विधि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । उपलब्ध साहित्य में उनसे पूर्व अन्य किसी ग्रन्थ में इतने विस्तार से पूजा विधि का वर्णन देखने में नहीं आता ।

उत्तरकाल के ग्रन्थकारों में वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार में प्रतिष्ठाविधि का भी विवेचन किया है, किन्तु पूजा विधि का विवेचन सोमदेव जितने विस्तार से नहीं किया है ।

आशा धर ने संक्षेप में पूजा का रूप बतलाया है ।

मेधावी ने वसुनन्दि के अनुसार विवरण दिया है ।

सोमदेव ने पूजकों के दो प्रकार किये हैं[४२] --

१) पुष्पादि में पूज्य का संकल्प करके पूजन करने वाले ।

२) प्रतिमा का अवलम्बन ले कर पूजन करने वाले ।

सोमदेव ने पूजक को फल, पत्र और पाषाण आदि की तरह अन्य धर्म

४०- सागार ध०, २।२८

४१- वही, २।२९

४२- द्वये देवसेवाधिकृताः--संकल्पिताप्तपूज्यपरिग्रहाः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च । --उपासकाध्ययन, कल्प ३५, पृ० २१७

की मूर्ति में संकल्प करने का निषेध किया है और लिखा है कि जैसे शुद्ध कन्या में पत्नी आदि का संकल्प किया जाता है, दूसरे से विवाहित में नहीं, उसी प्रकार शुद्ध द्रव्य में ही पुण्य का संकल्प करना चाहिए, आकारान्तर को प्राप्त वस्तु में नहीं।[४३]

सोमदेव ने उक्त दोनों प्रकार के पूजकों के लिए पृथक्-पृथक् पूजा विधि का प्रतिपादन किया है।

वसुनन्दि ने सोमदेव के द्वारा निर्दिष्ट उक्त दोनों प्रकारों को सद्भाव स्थापना तथा असद्भाव-स्थापना नाम दिये हैं तथा साकार वस्तु (प्रतिमा) में अर्हन्त आदि के गुणों का आरोपण करने को सद्भाव स्थापना और अक्ष, वराटक आदि में अपनी बुद्धि से `यह अमुक वस्तु है` ऐसा संकल्प करने को असद्भाव स्थापना बताया है।[४४]

वसुनन्दि ने इस काल में असद्भाव स्थापना का निषेध किया है। लिखा है कि दुष्षमा-सर्पिणी काल में दूसरी असद्भाव स्थापना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कुलिंगमति से मोहितों को इसमें सन्देह हो सकता है।[४५]

वसुनन्दि ने पूजा के छह भेद किये हैं[४६] -- (१) नाम पूजा, (२) स्थापना

४३- संकल्पोऽपि दलफलोपलादिष्विव न समयान्तर प्रतिमासु विधेयः। यतः--

शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः।
नाकारान्तर संक्रान्ते यथा परपरिग्रहे ।।--उपासका० श्लो० ४८१

४४- सब्भावासब्भावा दुविधा ठवणा जिणोहि पण्णत्ता।
सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोपणं पढमा ।।
अक्खवराडओ वा अमुगो एसोत्ति णियबुद्धीए।
संकप्पिऊण वयणं एसा बिइया असब्भावा।।--वसुनन्दि उपा० गा०,३८३-८४

४५- वही, गा० ३८५

४६- णामं ठवणादव्वे खित्ते काले वियाण भावे य।
छव्विहपुया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं ।।--वही, गा० ३८१

पूजा, (३) द्रव्यपूजा, (४) भावपूजा, (५) क्षेत्रपूजा और (६) कालपूजा। अर्हन्त आदि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में पुष्पक्षेपण करना नाम पूजा है।[४७] जिनप्रतिमा की स्थापना करके पूजन करना स्थापना पूजा है।[४८] जल गन्ध आदि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की पूजा करना द्रव्य-पूजा है[४९]। जिन भगवान् के पंचकल्याणकों की भूमि में पूजा करना क्षेत्रपूजा है[५०]। भक्तिपूर्वक जिन भगवान् के गुणों का कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है वह भावपूजा है[५१]। नमस्कार मन्त्र का जाप और ध्यान भी भावपूजा है[५२]।

अमितगति ने अपने श्रावकाचार में पूर्वाचार्यों के अनुसार वचन और शरीर की क्रिया को रोकने का नाम द्रव्य-पूजा और मन को रोक कर जिनभक्ति में लगाने का नाम भाव-पूजा कहा है। उनके अपने मत से गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और अक्षत से पूजा करने का नाम द्रव्य-पूजा है और जिनेन्द्र के गुणों का चिन्तन करने का नाम भाव-पूजा कहा है।[५३]

ऊपर कहा गया है कि सोमदेव ने पूजकों के जो दो प्रकार बताये हैं उनके लिए पूजा की दो विभिन्न विधियों का वर्णन किया है। उनका विवेचन इस प्रकार है--

---

४७- वसुनन्दि उपा०, गा० ३८२

४८- वही, गा० ३८३-८४

४९- वही, गा० ४४८-५१

५०- वही, गा० ४५२

५१- वही, गा० ४५३-५५

५२- वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥
गन्धप्रसूनसान्नाय दीपधूपाक्षतादिभिः।
क्रियमाणा मता ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः॥
व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः।
गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते॥--अमितगति०, १२।१२-१४

१- संकल्पिताप्तपूजा

पुष्प आदि में पूज्य का संकल्प करने को सोमदेव ने संकल्पिताप्तपूजा कहा है और उपासकाध्ययन के पैंतीसवें कल्प में 'समयसमाचारविधि' नाम दिया है।[५४] इस विधि का प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि पूजाविधि के ज्ञाताओं को सदा अर्हन्त और सिद्ध को मध्य में, आचार्य को दक्षिण में, उपाध्याय को पश्चिम में, साधु को उत्तर में और पूर्व में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भोजपत्र पर, फलक पर, वस्त्र पर, शिलातल पर, सिकता पर, क्षिति पर, व्योम में, हृदय में स्थापित करना चाहिए।[५५]

इसके बाद सोमदेव ने विस्तार से पांच परमेष्ठी एवं रत्नत्रय की अष्ट द्रव्य से पूजा करने का पृथक्-पृथक् मन्त्र दे कर विवेचन किया है[५६]। उसके उपरान्त क्रमशः दर्शन ---भक्ति, ज्ञान भक्ति, चारित्र भक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरु-भक्ति, शान्ति भक्ति और आचार्य भक्ति का प्रतिपादन किया है।[५७]

२- प्रतिमा-पूजा

प्रतिमा की पूजा करने की विधि के सोमदेव ने छह अंग बताये हैं[५८] --
१- स्नपन, २- अर्चन, ३- स्तव, ४- जप, ५- ध्यान, ६- श्रुतदेवताराधन।

स्नपन या प्रतिमाभिषेक

स्नपन विधि का उल्लेख करते हुए सोमदेव ने लिखा है कि शुभ भाव रूपी जल

५४- इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पंचत्रिंशतमः कल्पः। --उपासका, पृ० २३३
५५- अर्हन्नतनुमध्ये दक्षिणतो गणधरस्तथा पश्चात्।
श्रुतयः साधुस्तदनु च पुरोऽपि दृगवगमवृत्तानि॥
पूर्वे फलके सिचये शिलातले सैकते क्षितौ व्योम्नि।
हृदये चेते स्थाप्याः समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम्॥-- वही, श्लो० ४८२-८३
५६- अष्टतयीमिमां करोमीति स्वाहा -- वही, पृ० २१८
५७- वही, श्लो० ४९४-५२५

से मेरा मन शुद्ध है और पवित्र जल से मेरा शरीर शुद्ध है अर्थात् मैंने शुद्ध जल से स्नान किया है और मेरे मन में शुभ भाव हैं। मैं श्रीमण्डप में अनेक वस्तुओं से विभूषित वेदी पर विधिपूर्वक जिन भगवान् का अभिषेक करता हूं। ऐसी प्रतिज्ञा करके स्वयं उत्तर दिशा की ओर मुंह करके खड़ा हो और जिनबिम्ब का मुख पूर्व दिशा की ओर करके उनकी स्थापना करे। तथा पूजा के समय सदा अपने मन, वचन और काय को स्थिर रखे[५९]।

सोमदेव ने देवपूजन के छह प्रकार बताये हैं[६०] -- (१) प्रस्तावना, (२) पुराकर्म, (३) स्थापना, (४) सन्निधापन, (५) पूजा, (६) पूजा का फल।

इनका विवेचन निम्नप्रकार है[६१] --

१-प्रस्तावना -- जो लक्ष्मी के जन्म के लिए सागर के समान है, योगीजन मन में जिसका ध्यान करते हैं, जिसके द्वारा यह लोक सनाथ है, जिसे देवतागण नमस्कार करते हैं, जिससे श्रुत का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसके प्रसाद से मनुष्य पुण्यशाली होते हैं, तथा जिसमें ये सांसारिक दुःख-सुखादि नहीं है, उस जिनेन्द्र के अभिषेक को मैं प्रारम्भ करता हूं।

२- पुराकर्म -- रत्न सहित जल से तथा कुश और अग्नि से शुद्ध की गयी भूमि में दूध से नागेन्द्रों को संतृप्त करके पूर्वादि दश दिशाओं को दूर्वा, अक्षत, पुष्प और कुश से युक्त करता हूं। और वेदी के चारों कोनोंमें पल्लव और फूलों से सुशोभित, जल से भरे हुए चार घटों को स्थापित करता हूं, जो मूंगा और मोती से युक्त होने के कारण क्षीरसमुद्र की तरह हैं।

३- स्थापना -- जिस जिनेन्द्र का निवास-स्थान स्वभाव से ही तीनों लोकों के सब मस्तक के ऊपर लोक के अग्रभाग में है (क्योंकि प्रत्येक जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है

५८- इदानीं ये कृतप्रतिमापरिग्रहास्तान्प्रति स्नपनार्चनस्तवजपध्यानश्रुतदेवताराधनविधीन् षट् प्रोद्धारयिष्यामः। -- उपासका०, पृ० २३३

५९- वही, ५२७-२८

६०- वही, ५२९

अत: मुक्त होने के पश्चात् लोक के अग्रभाग तक जा कर वहीं ठहर जाता है) अत: यदि उसका अभिषेक सुमेरु पर्वत पर हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है । मणिजड़ित सोने के घटोंसे लाये गये पवित्र जल से जो शुद्ध किया गया है और फिर जिसे अर्घ दिया गया है तथा जिस पर `श्री ह्री` लिखा हुआ है, ऐसे सिंहासन पर तीनों लोकों के स्वामी जिनेन्द्रदेव की मैं स्थापना करता हूं ।

४- सन्निधापन -- यह जिनबिम्ब ही साक्षात् जिनेन्द्रदेव है, यह सिंहासन सुमेरु पर्वत है, घटों में भरा हुआ जल साक्षात् क्षीरसमुद्र का जल है और आपके अभिषेक के लिए इन्द्र का रूप धारण करने के कारण मैं साक्षात् इन्द्र हूं तब इस अभिषेक महोत्सव की शोभा पूर्ण क्यों नहीं होगी ।

५- पूजा -- इस अभिषेक महोत्सव में हे कुशलकर्ता इन्द्र, अग्नि, यम, नऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईश तथा शेष चन्द्रमा आदि आठ प्रमुख ग्रह अपने-अपने परिवार के साथ आकार और `भू: स्व:` आदि मन्त्रों के द्वारा बलि ग्रहण करके अपनी-अपनी दिशाओं में स्थित हो कर शीघ्र ही जिन अभिषेक के लिए उत्साही पुरुषों के विघ्नोंको शान्त करें ।

सोमदेव ने दाख, खजूर, नारियल, ईख, प्राचीन आमलक, राजादन, आम्र तथा सुपारी के रस से जिनाभिषेक करने का प्रतिपादन किया है ।[६२] इसके बाद घृत, दुग्ध, दधि से अभिषेक करने का विवेचन किया है[६३] । तदनन्तर खस, लवंग, कंकोल, मलयागरु मिश्रित `पिष्ट` `कल्क` और `कषाय` के द्वारा जिन देह की उपासना करने की बात लिखी है[६४] । इसके बाद `गन्धोदक`[६५] और अन्त में

६२- द्राक्षाखर्जूरनालेरैक्षुप्राचीनामलकोद्भवै: ।
राजादनाम्रपूगोत्थै: स्नापयामि जिनं रसै: ।।-- उपा० श्लो० ५४१

६३- वही, श्लो० ५४२-४४

६४- खसालवंगकंकोलमलयागरुमिश्रितै : ।
पिष्टै: कल्कै: कषायैश्च जिनदेहमुपास्महे ।।-- वही, श्लो० ५४५

६५- वही, श्लो० ५४८

शुद्ध जल से अभिषेक करने की बात लिखी है[६६]।

उपर्युक्त प्रकार से जिनदेव का अभिषेक करके 'कलोदलकमल' पर जिनदेव को स्थापित करे और फिर विधिपूर्वक अष्टद्रव्य से पूजा करे।[६७] आगे लिखा है कि अभिषेक महोत्सव के पश्चात् जिनेन्द्रदेव की जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प, हवि, दीप, धूप और फलों से पूजा करके मैं उनका स्तवन करता हूं, उनका नाम जपता हूं, उन्हें चित्त में धारण करता हूं, शास्त्र की आराधना करता हूं तथा त्रिलोक के ज्ञाता उनके ज्ञान रूपी नेत्र की श्रद्धा करता हूं[६८]। अर्थात् पूजन के पश्चात् पूजक को जिनेन्द्र का स्तवन जप, ध्यान आदि करना चाहिए। इस क्रिया के समाप्त होने के साथ पूजन का पांचवां प्रकार समाप्त हो जाता है।

पूजा के अष्टद्रव्य और उनका फल

इस प्रकार सोमदेव ने पूजा के अष्टद्रव्य क्रमशः निम्न प्रकार बताया है -- (१) जल, (२) चन्दन, (३) अक्षत, (४) पुष्प, (५) नैवेद्य, (६) दीप, (७) धूप और (८) फल।

इन अष्टद्रव्यों से की गयी पूजा का फल प्रतिपादित करते हुए सोमदेव ने लिखा है, कि हे भगवन्! जब तक इस चित्त में आपका निवास है तब तक सदा जिन चरणों में मेरी भक्ति रहे, सब प्राणियों में मेरा मैत्रीभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत बुद्धि सबका आतिथ्य करने में संलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्मतत्व में लीन रहे, ज्ञानी जनों से मेरा स्नेह भाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकार में लगी रहे। हे देव! प्रातः कालीन विधि आपके चरण कमलों की पूजा से सम्पन्न हो, मध्याह्नकाल मुनियों के समागम में बीते तथा सायंकाल का समय भी आपके चारित्र का कीर्तन करने में व्यतीत हो। धर्म के प्रभाव से राज्यपद को प्राप्त हुआ राजा धर्म के विषय में, धार्मिकों के विषय में और धर्म के हेतु चैत्यालय आदि के विषय में सदा अनुकूल रहे।

६६- उपासकाo, श्लोo ५४६

६७- वही, श्लोo ५५०-५८

६८- वही, श्लोo ५५६

तथा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के चरणोंकी पूजा से प्राप्त हुए पुण्य से धन्य हुई जनता यथेच्छ उत्कृष्ट लक्ष्मी को प्राप्त करे ।[६६]

देवसेन कृत `भावसंग्रह`[७०] तथा आशाधर कृत सागारधर्मामृत में पूजा के फल का जो वर्णन पाया जाता है वह प्राय: समान है । आशाधर ने लिखा है, कि अर्हन्तदेव के चरणों में जल की धारा अर्पित करने से पापोंकी शान्ति होती है, चन्दन से शरीर सुगन्धित होता है, अक्षत से अविनाशी ऐश्वर्य प्राप्त होता है, पुष्प माला से स्वर्गीय पुष्पों की माला प्राप्त होती है, नैवेद्य से लक्ष्मी का स्वामी बनता है, दीप से कान्ति प्राप्त होती है, धूप से परम सौभाग्य प्राप्त होता है, फल से इष्ट की प्राप्ति होती है और अर्घ से मूल्यवान् पद प्राप्त होता है ।[७१]

पूजा फल के बाद एक श्लोक में सोमदेव ने लिखा है, "हे भगवन् ! शरीर के आलस्य से या इन्द्रियों के इधर-उधर लग जाने से अथवा आत्मा की अन्यमनस्कता से अथवा मन की चपलता से या बुद्धि की जड़ता से अथवा वाणी में सौष्ठव की कमी के कारण आपके स्तवन में मुझसे जो कुछ प्रमाद हुआ है वह मिथ्या हो ।[७२]

स्तवन, जप और ध्यान

सोमदेव ने पूजा के बाद स्तवन का और उसके बाद जप और ध्यान का विस्तार से विवेचन किया है ।

जिन पूजा के उपरान्त आराधक जिनेन्द्रदेव का स्तवन करता है । उसके बाद

६६- उपासका०, श्लो० ५६१-६३

७०- भावसंग्रह, गा० ४७१-७७

७१- धाराधारा रजस: शमाय पदयो: सम्यक्प्रयुक्ताऽर्हत:।
सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षता:।
यष्टु: स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्तिषे,
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय वार्घाय स:।। -- वही, २।३०

७२- वही, श्लो० ५६५

जप करता है और जप के बाद ध्यान । सोमदेव ने उपासकाध्ययन में क्रमशः ३७ वें कल्प में स्तवन, ३८ वें कल्प में जप तथा ३९ वें कल्प में ध्यान का वर्णन किया है ।

सोमदेव ने जप की विधि, जप मन्त्र, जपमाला आदि का पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए लिखा है कि कोई सर्वोद्धार, नामोद्धार, मुख्योद्धार तथा कोई एकाक्षर से जप करना बतलाते हैं, किन्तु मैं तो सिद्धक्रम से ही मानता हूँ[७३]। अर्थात् कोई `णमो अरहंताणं` आदि पूरे मन्त्र से, कोई अरहंत, सिद्ध आदि नामाक्षरों से, कोई पंचपरमेष्ठी के वाचक `अ सि आ उ सा` इन मुख्याक्षरों से तथा कोई `ओं` अथवा `अ` आदि एक अक्षर से जप करना बतलाते हैं, किन्तु सोमदेव पूरे पंच नमस्कार मन्त्र से ही जप करना बतलाते हैं ।

सोमदेव ने पंचनमस्कार मन्त्र के जपने पर विशेष बल दिया है । उनका कहना है कि पंचनमस्कार मन्त्र अकेला भी सब मन्त्रों का कार्य करने में समर्थ है । अन्य सब मन्त्र मिल कर भी इसका एक देश कार्य भी नहीं कर सकते । मन्त्र का उच्चारण शुद्ध और स्पष्ट होना चाहिए । जप पुष्पों के द्वारा, अंगुलिपर्वों के द्वारा, कमल गट्टों के द्वारा या स्वर्ण, रत्न आदि की माला के द्वारा किया जा सकता है[७४] । वाचनिक जप से मानसिक जप का विशेष महत्व है । जप करने वाले व्यक्ति को इन्द्रियों को निश्चल रख कर और पर्यंकासन से बैठ कर ही जप करना चाहिए, तथा श्वास और उच्छ्वास के प्रति भी सावधान रहना चाहिए ।

`णमो अरिहंताणं` और `णमो सिद्धाणं` के अन्त में एक `णमो आइरियाणं,` `णमो उवज्झायाणं` के अन्त में एक और `णमो लोए सव्वसाहूणं`

७३- सर्वोद्धारनामोद्धारमुख्योद्धाराद्येकवर्णविन्यासात् ।
निगदन्ति जपं केचिदहं तु सिद्धक्रमेणैव ।। --उपासका०, ५९८

७४- पुष्पैः पर्वभिरङ्गुलीजस्वर्णादिकान्तरत्नैर्वा ।
निष्कम्पिताङ्गावयवः पर्यंकस्थो जपं कुर्यात् ।। -- वही, ६००

के अन्त में एक, इस तरह तीन श्वासोच्छ्वास में एक बार नमस्कार मन्त्र जपना चाहिए।[७५]

ध्यान

सोमदेव ने उपासकाध्ययन के ध्यान विधि नामक उनतालीसवें कल्प में एक सौ पच्चीस श्लोकों में ध्यान का वर्णन किया है। ध्यान के पहले सोमदेव ने अड़तीसवें कल्प में जपविधि का कथन किया है। ध्यान से पूर्व की अवस्था जप ही है। विधिपूर्वक जप में अभ्यस्त हो जाने पर ही ध्यान का क्रम आता है। इस दृष्टि से इसका विशेष महत्व है।

जप में अभ्यस्त हो जाने पर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। एक ही विषय में चित्त को स्थिर करने का नाम ध्यान है। ध्यान करते समय अन्तरंग और बहिरंग पत्थर की मूर्ति की तरह निश्चल होने चाहिए और विपत्ति आने पर भी घबराना नहीं चाहिए। वैराग्य, ज्ञान, निष्परिग्रहता, चित्त की स्थिरता और कष्ट सहन की क्षमता, ये ध्यान के साधन हैं। रोग, शोक, प्रमाद आदि उसके बाधक हैं।[७६]

सोमदेव ने तान्त्रिक साधना में प्रतिपादित हठयोग की प्रक्रिया का निषेध किया है[७७]। जो योगी हो कर भी इन्द्रियों के वशीभूत है वह योगी नहीं है।[७८]

जैन आचार्यों ने ध्यान के चार भेद बतलाये हैं -- (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्लध्यान।[७९] इनमें से आदि के दो ध्यान त्याज्य हैं, क्योंकि वे संसार को बढ़ाने वाले हैं। शेष दो ध्यान ही करने योग्य हैं और वे ही मोक्ष के कारण हैं। उनमेंसे प्रत्येक ध्यान के चार-चार भेद हैं।

७५- उपासका०, ६०१-११

७६- वैराग्यं ज्ञानसम्पत्तिरसंगः स्थिरचित्तता।
क्रमेणाभ्यसनत्वं च पंच योगस्य हेतवः ।। -- वही, ६३२

७७- वही, ६३७-३९

७८- वही, ६४२

७९- तत्वार्थसूत्र ,

सोमदेव ने ध्यान के दो भेद और भी कहे हैं[८०] --

एक सबीजध्यान और एक अबीजध्यान। सबीज ध्यान में मन वायुशून्य प्रदेश में स्थित दीपशिखा की तरह निश्चल रहता है। और तत्व के दर्शन से उल्लास युक्त होता है। अबीज ध्यान में चित्त निर्विचार हो जाता है तथा आत्मा-आत्मा में ही लीन हो जाता है। अर्थात् सबीज ध्यान में मन सविकल्प रहता है, किन्तु अबीज ध्यान में निर्विकल्प हो जाता है। यह ध्यान की उत्कृष्ट दशा है।

सोमदेव ने लिखा है कि जब पांचों इन्द्रियां और मन स्वात्मा में लीन हो जाते हैं, तब अन्तस्तल में ज्योति का विकास होता है।

चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है। आत्मा ध्याता है और आत्मा ही ध्येय है तथा वही उसके फल का स्वामी है। ध्यान का उपाय है इन्द्रियों का दमन।[८१]

असमर्थता से विघ्न दूर नहीं हो सकते और न कातरता से मृत्यु के पंजे से छुटकारा मिल सकता है। अतः बिना किसी प्रकार के खेद के परब्रह्म का ही चिन्तन करना चाहिए।[८२]

मन का नियन्त्रण किये बिना ध्यान सम्भव नहीं है। देवसेन ने आराधना-सार में कहा है कि मन का निग्रह करने पर आत्मा परमात्मा हो जाता है।[८३]

योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश में लिखा है कि सब प्रकार के रागों से और पांचों इन्द्रियों के विषयों से चित्त को हटा कर आत्मा का ध्यान करो।[८४]

पूज्यपाद देवनन्दि ने समाधि-शतक में लिखा है कि सब इन्द्रियों को संयमित करके स्थिर अन्तरात्मा के द्वारा एक क्षण के लिए जो कुछ गोचर होता है वही

८०- उपासका, श्लो० ६२२-२३

८१-चित्तस्यैकाग्रताध्यानं ध्यातात्मा तत्फलप्रभुः।
ध्येयमात्मागमज्योतिस्तद्विधिर्दमयातना ।। -- वही, ६१६

८२- वही, ६१७

८३- आराधना०

८४- परमात्म०, २।१७२

परमात्मतत्व है।[८५]

सोमदेव ने इसी बात को रहस्यवाद के रूप में चित्रित करते हुए लिखा है कि जब मन रूपी हंस मानसिक कार्य से विमुक्त हो जाता है, और आत्मा रूपी हंस सब तरह से स्थिर हो जाता है तो ज्ञानरूपी हंस सबके द्वारा दृश्य सरोवर का हंस बन जाता है।[८६]

ध्यान बहुत कठिन है इसी से उसका समय एक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है। इस से अधिक समय तक चित्त को एक ही विषय में एकाग्र रखना कठिन [illegible] है। उतना अल्पकालीन निश्चय ध्यान भी कर्म रूपी पर्वत को वज्र की तरह चूर्ण कर डालता है।

सोमदेव ने ध्यान का वर्णन करते हुए कुछ श्लोकों के द्वारा ध्याता की भावना का चित्र खींचा है। ध्याता विचारता है, "मैं परम ब्रह्म हूँ, सुख रूपी अमृत के लिए चन्द्रमा और सुख रूपी सूर्य के लिए उदयाचल हूं, किन्तु अज्ञानान्धकार के फन्दे में फंस कर इस शरीर में निवासकरता हूं। जब मेरा चित्त परमात्मा के ध्यान से आलोकित होगा, तब मैं प्रकाशमान् सूर्य की तरह संसार का द्रष्टा बन जाऊंगा। इन्द्रिय जन्य समस्त सुख प्रारम्भ में मधुर प्रतीत होता है, किन्तु अन्त में कटु। यदि जन्म का अन्त मृत्यु, यौवन का अन्त बुढ़ापा, संयोग का अन्त वियोग और सुख का अन्त दुःख न होता तो कौन मनुष्य संसार को छोड़ना चाहता। मैं आज बड़ा भाग्यशाली हूं कि सम्यग्दर्शन के तेज से मेरा अन्तरात्मा विशुद्ध हो कर अन्धकार के पार पहुंच गया है। मैंने इस संसार में कौन सा सुख और दुःख नहीं भोगा, किन्तु जिनवाणी रूपी अमृत का पान कभी नहीं किया। इस अमृतसागर की एक बूंद को भी चाट लेने से जीव को फिर जन्मरूपी आग में कभी भी जलना नहीं पड़ता।[८७]

८५- समाधिशतक, ३०

८६- निर्मनस्के मनोहंसे पुंसि सर्वतः स्थिरे।
बोधहंसो ऽखिलालोक्य सरोहंसः प्रजायते ।।-- उपासका०, ६२५

८७- वही, श्लो० ६६६-७३

ज्ञानार्णव में संस्था विचय नामक धर्म ध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का वर्णन है। तत्वानुशासन[८८] में भी धर्मध्यान के अन्तर्गत इन चार ध्यानों का वर्णन है, किन्तु उनके पिण्डस्थ आदि नाम नहीं हैं। सोमदेव ने आर्त आदि चारों ध्यानों का वर्णन करने के पश्चात् रूपस्थ और पदस्थ ध्यानों का वर्णन किया है, पर दोनों नाम नहीं दिये हैं और उसके पश्चात् लिखा है कि लोकोत्तर ध्यान का कथन किया। अब कुछ लौकिक ध्यान का कथन करते हैं।[८९] इसमें उन्होंने सर्व प्रथम 'ओं' का ध्यान करना बतलाया है और उसके लिए प्राणायाम की साधना की आवश्यकता बतलायी है। ज्ञानार्णव में इसका विशेष रूप से वर्णन आया है।[९०] सोमदेव ने ध्यान के प्रकरण के अन्त में पद्मासन, वीरासन और सुखासन के लक्षण बतलाये हैं।[९१]

श्रुतपूजा

ध्यान के विवेचन के बाद सोमदेव ने ४० वें कल्प में अष्टद्रव्य से जिनवाणी की पूजा करने का वर्णन किया है। अन्त में लिखा है कि स्याद्वादरूपी पर्वत से उत्पन्न होने वाली, मुनियों के द्वारा आदरणीय, अन्य की शरण में न जाने वाले देवों के द्वारा सम्यक् रूप से उपासनीय और जिसका प्रवाह अन्तःकरण के समस्त दोषों को हरने वाला है, ऐसी वाणी रूपी नदी मेरे ज्ञान रूपी हाथी के अवगाहन के लिए हो।

सोमदेव ने अभिषेक आदि का फल बताते हुए लिखा है कि जिन-अभिषेक करने से मनुष्य मस्ताभिषेक का पात्र होता है, पूजा करने से पूजनीय होता है, स्तव करने से स्तवनीय होता है, जप से जप किये जाने योग्य होता है, ध्यान करने से बाधाओं से रहित होता है और श्रुत की सेवा करने से महान् शास्त्रज्ञ होता है।[९२]

८८- तत्वानुशासन

८९- उपासका०, श्लो० ७०८

९०- ज्ञानार्णव अधि०, २९

९१- उपासका०, श्लो० ७३२-३७

९२- मूर्धाभिषिक्तोऽभिषवाज्जिनानामर्च्यश्चैवार्चनात् स्तवार्हः।
जपो जपाध्यानविधेरवाच्यः श्रुताश्रितश्रीः श्रुतसेवनाच्च ॥--उपासका०, ७४८

जैन पूजा पद्धति में क्रमशः परिवर्तन-परिवर्धन हुए हैं। आगे के विवरण से यह भी ज्ञात होगा कि ये परिवर्तन सांस्कृतिक आदान-प्रदान या दूसरे शब्दों में एक परम्परा के दूसरी परम्परा पर प्रभाव के कारण हुए हैं। बाद में आचार्यों ने उन्हें आचार ग्रन्थों में समाहित करके उन्हें अपनी परम्परा में स्वीकृति दे दी। सोमदेव ने इसे बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा है --

गृहस्थ के दो धर्म हैं -- लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म लोक के आश्रित होता है और पारलौकिक आगम के आश्रित। सभी जातियां अनादि हैं और उनकी क्रिया भी उसी तरह की है। इनके सम्बन्ध में श्रुति अथवा शास्त्रान्तर को प्रमाण मान लेने में हमारी क्या हानि है। सम्यक्त्व को हानि न पहुंचाये और व्रत को दूषण न लगे, ऐसी सभी लौकिक विधि जैनों को प्रमाण हैं।[९२]

सोमदेव के लगभग सौ वर्ष पूर्व जिनसेन आदिपुराण में अनेक ऐसी लोक परम्परा या अन्य संस्कृतियों में प्रचलित मान्यताओं को पहले ही समाहित कर चुके थे। जिससे बाद के ग्रन्थकारोंका मार्ग प्रशस्त हुआ और उन्होंने भी अपने ग्रन्थों में अनेक नयी बातों को समाहित किया। यहां पर इस दृष्टि से उपासना पद्धति से सम्बद्ध कतिपय विषयों पर विचार करेंगे।

पूजा में आह्वान और विसर्जन

धर्मसंग्रह श्रावकाचार[९४] (वि० सं० १५१६ अनु०) और लाटी संहिता

९३- द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रितः।।
जातयोऽनादयः सर्वाः तत्क्रिया अपि तथाविधाः।
श्रुतिशास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं नात्र कः क्षतिः।।
सर्वं स्वं हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्।।--उपासका०, श्लो० ४७६-७७, ४८०

९४- धर्मसंग्रह श्राव०, ६।५६

(वि० सं० १६४१) में आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन ये पांच प्रकार पूजा के बताये हैं। आशाधर के काल तक के साहित्य में ये पांच प्रकार देखने में नहीं आते।

यह आह्वानन आदि की विधि जैन परम्परा में कैसे प्रविष्ट हुई, इस पर दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा। सोमदेव सूरि ने स्थापन और सन्निधापन के पश्चात् तथा अभिषेक से पहले विघ्नों की शान्ति के लिए इन्द्र, अग्नि, यम आदि देवताओं से बलिग्रहण करके अपनी-अपनी दिशा में स्थित होने की प्रार्थना की है, किन्तु उन्हें बुला कर भी उनका विसर्जन नहीं किया है[९५]।

देवसेन कृत भावसंग्रह में इन्द्रादि देवताओं का आह्वानन तथा उन्हें यज्ञ का भाग अर्पित करके पूजन के अन्त में उन आहूत देवों का विसर्जन भी किया है[९६]।

वर्तमान में प्रचलित जैन पूजा पद्धति के सम्बन्ध में पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने लिखा है[९७] कि जो आह्वानन और विसर्जन इन्द्रादि देवताओं के निमित्त किया जाता था, आगे उसे पूजा का आवश्यक अंग मान कर जिनेन्द्र देव के लिए ही किया जाने लगा। आजकल पूजन के अन्त में विसर्जन करते हुए नीचे यह श्लोक भी पढ़ा जाता है :

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम् ।
ते मयाऽभ्यर्चिता: भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ।।

पंडित जी ने आगे लिखा है[९८] कि वास्तव में यह विसर्जन पूजन के प्रारम्भ में आहूत इन्द्रादि देवताओं के लिए है, जिनेन्द्र देव के लिए नहीं है। संस्कृत के श्लोक में जो `पुरा` यथाक्रमंलब्धभागा:` पद है, वे इस कथन के समर्थक हैं। पुरा का अर्थ है पहले अर्थात् पूजन आरम्भ करने से पूर्व। सोमदेव कृत उपासकाध्ययन में तथा भावसंग्रहमें

९५- उपास०, ५३८

९६- आ० ३, भावसं० गा० ९०-९२, १३२

९७- उपासका० प्रस्ता०, पृ० ५२

९८- वही, प्रस्ता०, पृ० ५२-५३

अभिषेक से पहले इन्द्रादि देवताओं को बुला कर उन्हें बलि या यज्ञभाग देने का विधान है। यही बात उक्त श्लोक के पूर्वार्द्ध द्वारा कही गयी है, "जिन देवोंकी पूजन के प्रारम्भ से पहले आहूत किया था और जिन्होंने क्रमानुसार अपना-अपना भाग पा लिया है, वे मेरे द्वारा पूजित हो कर अपने-अपने स्थान को जायें। जिनेन्द्रदेव तो न कहीं जाते हैं और न पूजा का द्रव्य ग्रहण करते हैं। किन्तु वैदिक विधि के अनुसार इन्द्रादि देवताओं का आह्वानन यज्ञ में किया जाता है और अग्नि देवताओं का मुख है। अतः उस-उस देवता के उद्देश्य से मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्नि में जो आहुति दी जाती है वह उस-उस देवता को पहुंच जाती है, ऐसी वैदिक मान्यता है। उसी मान्यता का प्रभाव उत्तरकाल में जैन पूजाविधि में भी प्रविष्ट हो गया प्रतीत होता है। इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवता हैं। उन्हीं को प्रसन्न करके उनकी कृपा-कामना के लिए वैदिक यज्ञ किये जाते थे। यज्ञ तो जैनों-बौद्धों के विरोध के कारण एक तरह से बन्द हो गये। उसकेसाथ ही वैदिक देवताओं का भी पुराना स्थान जाता रहा, फिर भी लौकिक मान्यता बनी रही। सम्भवतः उसी मान्यता ने जैनोंकी पूजा विधि को भी प्रभावित कर दिया। सोमदेव ने तो केवल दिक्पालों और नवग्रहों का आह्वान मात्र करके उनसे बलिग्रहण करने की प्रार्थना की है, किन्तु आशाधर ने अपने प्रतिष्ठा-पाठ में नवग्रहों का वर्णन करके उन सबको पृथक्-पृथक् बलि प्रदान करने का विधान किया है।

प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक

जैन धर्म में जिन प्रतिमा का अभिषेक तीर्थंकरों के जन्म कल्याणक के समय सुमेरु पर्वत पर इन्द्र के द्वारा किये गये अभिषेक का ही प्रतिरूप माना गया है।

सोमदेव ने अभिषेक के अवसर पर सन्निधापन क्रिया का वर्णन करते हुए लिखा है कि यही वे जिनेन्द्र देव हैं, यह सिंहासन ही सुमेरु पर्वत है और कलशों में स्थित जलादि ही क्षीरोदधि क्षीर समुद्र का जल है।[६६] जन्म के बाद इन्द्र तीर्थंकर बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जा कर वहां क्षीर समुद्र के जल से उसका अभिषेक करता है।

६६- उपासकाध्ययन, श्लो० ५३७

यही तीर्थंकर का जन्म-कल्याणक माना जाता है। जैन परम्परा में घृत, दुग्ध, दधि आदि से अभिषेक की परम्परा कब से और कैसे प्रारम्भ हो गयी, इस पर यहां ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने का प्रयत्न करेंगे।

सोमदेव से पूर्व के किसी श्रावकाचार में अभिषेक पूजा आदि का विवेचन उपलब्ध नहीं होता।

भावसंग्रह में यद्यपि इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु उसे सोमदेव के पूर्व की रचना मानना निर्विवाद नहीं है।

सोमदेव से पूर्व के कतिपय पुराणों में दुग्ध, दधि आदि से प्रतिमा का अभिषेक करने का उल्लेख मिलता है।

रविषेण कृत पद्मपुराण में जिनबिम्ब के अभिषेक के लिए घृत, दुग्ध आदि से पूर्ण कलशों का उल्लेख है।[१००]

जिनसेन कृत हरिवंशपुराण में भी क्षीर, इक्षुरस, घृत, दधि और जल से भगवान् का अभिषेक करने का उल्लेख है।

जटासिंहनन्दि कृत वरांगचरित में अभिषेक की पूरी विधि का चित्रण किया गया है। वहां दुग्ध, दधि आदि से भरे कलशों का उल्लेख है किन्तु उनसे अभिषेक किये जाने का उल्लेख नहीं है। जल से अभिषेक का अवश्य उल्लेख है। उसमें ग्रन्थकार ने लिखा है[१०२] कि राजा की आज्ञा से बुद्धिमान् पुरोहित ने जिन भगवान् के अभिषेक के लिए जल, दुग्ध, पुष्प, फल, गन्ध, जौ, घृत, सरसों, तन्दुल, लाजा, अक्षत, काले तिल, दर्भ और दही आदि सामग्री संकलित की। जल शान्ति के लिए है, दुग्ध से तृप्ति होती है, दही से कार्य की सिद्धि होती है, तन्दुलों से दीर्घायु प्राप्त होती है, सरसों विघ्नों को दूर करते हैं, तिलों से मनुष्यों की वृद्धि होती है, अक्षत से नीरोगता प्राप्त होती है, जौ से अच्छा रूप मिलता है, घी से अच्छा शरीर मिलता है, फलों

१००- पद्मपुराण, ६८।१४

१०१- हरिवंशपुराण, २२।२१

१०२- वरांगचरित, सर्ग २३

से इस लोक और परलोक की सिद्धि होती है, गन्ध सौभाग्यदायक है, पुष्पों और लाजा से सौमनस्य प्राप्त होता है। इन्द्र आदि ने दिशाओं में दान करने के लिए क्रम से सोने चांदी, तांबा और कांसे के पात्र बनवाये। नदी, कूप, वापी, तालाब आदि पवित्र स्थानों से पानी एकत्र किया गया। दुग्ध, दधि, घृत और जल आदि से भरे हुए घट फूलों के गुच्छों से ढके गये। उन पर सुवर्णकारों ने चित्रकारी की थी। एक हजार आठ विशाल घट शीतल जल से पूर्ण किये गये। उनके मुख कमलों से ढके हुए थे। ये केवल जिनबिम्ब के अभिषेक के लिए थे। अनेक प्रकार के फल, कुंकुम, हिंगुल, चन्दन तथा धूप आदि संकलित की गयी। यह सब सामग्री राजमहल से ले कर जुलूस चला और बड़ी ठाट-बाट के साथ जिनमन्दिर में पहुंचा। राजा की पत्नियों और राजा ने मन्दिर में प्रवेश करके प्रदक्षिणा दी और उपहार सामग्री को स्थापित करा कर अभिषेक मण्डप में चले गये। अभिषेक कर्ता ने सुगन्धित जल से उनके हाथ धोये। उसके हाथ में दर्भ थे और वह इधर-उधर पुष्प फेंकता जाता था। मृदंग आदि की ध्वनि हो रही थी। चामर ढोरे जा रहे थे। मौनव्रत पूर्वक उसने जिनेन्द्र जिनेन्द्र-बिम्ब को ला कर रत्न-खचित पीठिका पर विराजमान कर दिया। इसके बाद पहले उसने जिनबिम्ब को प्रणाम किया। फिर दोनों हाथों से झारी उठा कर चरणों का अभिषेक किया और छुहारे से सामग्री खोल कर चढा दी। फिर दोनों हाथों से प्रतिमा को साफ करके बायें हाथ में जल ले कर `जिनादिभ्य: स्वाहा` ऐसा मन्त्र पढकर स्तोत्र पाठ करते हुए दायें हाथ के अंगुष्ठ से भगवान् के मस्तक पर जल की धारा डाली। फिर भगवान् के चरणों में पुष्प और अक्षत क्षेपण करके केशर की धारा दी। इसके बाद स्वच्छ-जल से पूर्ण तथा सत्पुष्पों से व्याप्त सोने और मिट्टी के अनेक घटोंसे भगवान् का अभिषेक करके पुरोहित ने सुगन्धित द्रव्यों का भगवान् पर लेप कर दिया।

विमलसूरि ने अपने प्राकृत `पउमचरियं` में पद्मपुराण की तरह दधि, क्षीर सर्पिष से जिनाभिषेक का उल्लेख किया है।[१०३]

१०३- दारेसु पुण्णकलसा ठविया दहि खीर सप्पिसंपुण्णा।
वरपउमपिहियवयणा जिणवर पुयाभिसेयत्थे ।।-- पउमचरियं, ६६।२३

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री का मन्तव्य है कि पद्मचरित मेंघृत, दुग्ध आदि का उल्लेख `पद्मचरिउ` से आया है।[१०४]

जिनसेन ने अपने आदिपुराण मेंऔर उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने उत्तर पुराण में दुग्ध, दधि आदि द्वारा अभिषेक का उल्लेख नहीं किया।

श्रौत-स्मार्त परम्परा

श्रौतस्मार्त परम्परा में पंचामृत में घृत, दुग्ध, दधि, शर्करा और मधु लिया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा मेंमधु और शर्करा के स्थान में इक्षु रस का विधान करके इसे स्वीकार कर लिया गया है। सोमदेव ने तो दास, खुर, केला इक्षु, आंवला, आम और सुपारी आदि के रस से भी भगवान् का अभिषेक करने का विवेचन किया गया है, यह पहले लिखा जा चुका है।

सोमदेव ने उपासकाध्ययन में जिस पूजा-पद्धति का वर्णन किया है उसे पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने वैदिक पूजा पद्धति से प्रभावित माना है[१०५]।

प्राचीन काल में वैदिक परम्परा में यज्ञों की ही प्रधानता थी। यज्ञों में इन्द्र आदि देवताओंके उद्देश्य से अग्नि में द्रव्य का हवन किया जाता था। अतः शाबर भाष्यकार ने याग, होम और दान का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि तीनों में स्वद्रव्य का त्याग समान है। अतः चूंकि देवता के उद्देश से द्रव्य का त्याग करना पूजा है इसलिए पूजा भी याग ही है।

श्रौत-स्मार्त परम्परा में पूजा के सोलह उपचार बतलाये हैं -- १) आवाहन, २- आसन, ३) पाद्य, ४) अर्घ्य, ५- आचमनीय, ६) स्नान, ७) वस्त्र, ८) यज्ञोपवीत, ९) अनुलेपन या गन्ध, १०) पुष्प, ११) धूप, १२) दीप, १३) नैवेद्य, १४) नमस्कार, १५) प्रदक्षिणा और १६) विसर्जन या उद्वासन। विभिन्न ग्रन्थोंमें विभेद भी पाया

१०४-उपासकाध्ययन, प्र०, पृ० ५४

१०५- वही, पृ० ५६

जाता है। कुछ में यज्ञोपवीत के पश्चात् धूपण और प्रदक्षिणा या नैवेद्य के बाद ताम्बूल पाया जाता है। इसलिए किन्हीं ग्रन्थों में उपचारों की संख्या अठारह है। कुछ में आवाहन नहीं है और आसन के बाद स्वागत और आचमनीय के बाद मधुपर्क है। कुछ में स्तोत्र और प्रणाम भी है। जो वस्त्र और अलंकार नहीं दे सकता, वह सोलह में से केवल दशोपचारी पूजा करता है। और जो इतना भी नहीं कर सकता वह पंचोपचारी पूजा करता है। और जो पंचोपचार भी करने में असमर्थ है, वह केवल पुष्पोपचार कर सकता है।

प्रतिष्ठित प्रतिमा की पूजा में आवाहन और विसर्जन नहीं होता, केवल चौदह ही उपचार होते हैं। अथवा आवाहन और विसर्जन के स्थान में मन्त्रोच्चारण पूर्वक पुष्पांजलि दी जाती है। इतने प्रतिमा में षोडशोपचारी ही पूजा होती है।

प्रतिमा का स्नान पंचामृत से होता है। दूध, दही, घी, शक्कर और चीनी ये पंचामृत हैं। पहले दूध से फिर दही से, फिर घी से, फिर मधु से और अन्त में चीनी से अभिषेक किया जाता है। इनके पश्चात् केवल जलाभिषेक होता है। यदि प्रतिमा मिट्टी की हो या चित्र रूप में हो तो उसका अभिषेक नहीं किया जाता। जो पंचामृत से अभिषेक नहीं कर सकते वे जल में तुलसी के पत्ते डाल कर उसी से अभिषेक करते हैं। अभिषेक के बाद चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से प्रतिमा का लेपन होता है।

यदि पुष्प न हों तो फल से, फल न हों तो पल्लव से, पल्लव न हो तो जल से प्रतिमा पूजन किया जा सकता है। पुष्पादि के अभाव में सफेद चावलों से पूजन करने का विधान है। पूजन के बाद आरातिका (आरती) की जाती है। नैवेद्य के सम्बन्ध में रामायण में लिखा है कि जो वस्तु पूजक स्वयं खाता है वही अपने देवता को भी अर्पित करता है।

संक्षेप में यह श्रौत-स्मार्त परम्परा की पूजा-पद्धति है। इसका प्रभाव उत्तर काल में जैन पूजा-पद्धति पर भी पड़ा प्रतीत होता है।

अन्य देवी-देवताओं की पूजा

जैन धर्म में पंच परमेष्ठी और रत्नत्रय की पूजा का ऊपर विवेचन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त किसी भी अन्य देवी-देवता की पूजा का विधान प्राचीन जैन आचार ग्रन्थों में नहीं मिलता प्रत्युत अन्य देवी-देवताओं को राग-द्वेष युक्त होने के कारण जैनाचार्यों ने कुदेव की संज्ञा दी है तथा उनकी पूजा को देवमूढ़ता के अन्तर्गत गिनाया है।

इस प्रकार स्पष्ट कथन होने के बाद भी जैन परम्परा में उत्तरकाल में अनेक देवी-देवताओं की पूजा प्रकारान्तर से आरम्भ हो कर धीरे-धीरे अधिक व्यापक होती गयी। यहां तक कि प्रत्येक तीर्थंकर के साथ एक यक्ष और एक यक्षी को सम्बद्ध कर दिया गया। दिग्पालों, नवग्रहों आदि की पूजा भी आरम्भ हो गयी।

जिन प्रतिमा के अभिषेक आदि के प्रारम्भ में दिग्पालों के आवाहन की परम्परा अधिक प्राचीन प्रतीत नहीं होती। जटासिंह नन्दि ने वरांगचरित में अभिषेक विधि का सांगोपांग वर्णन किया है किन्तु दिग्पालादि के आवाहन का उल्लेख नहीं है। सम्भवतया उत्तरकाल में अन्य सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रभाव से जैनाचार में भी इनका प्रवेश हो गया।

नौवीं-दसवीं शताब्दी के बाद जैन श्रावकाचार विषयक साहित्य की विपुलमात्रा में लिखा गया। पूजापाठ और प्रतिष्ठा-विधान विषयक ग्रन्थों की भी रचना हुई। उसी काल के साहित्य में विभिन्न देवी-देवताओं का प्रवेश हुआ दिखाई देता है।

भारतवर्ष में लगभग इन्हीं शताब्दियों में तान्त्रिक साधना का प्राबल्य बढ़ा। उसके प्रभाव से कोई धर्म अछूता नहीं रह सका। तान्त्रिक धर्म में देवी-देवताओं की आराधना की ही प्रधानता थी।

तमिलनाडु में यक्षी संस्कृति का उद्गम बतलाते हुए श्री देसाई ने लिखा है[१०६] कि तमिलनाडु में जैन धर्म को शैव और वैष्णव धर्मोंसे टक्कर लेनी पड़ी। शैव और

१०६- द्रष्टव्य - पी० बी० देसाई, जैनिज्म इन साउथ इंडिया।

वैष्णव धर्म में पार्वती और लक्ष्मीपूजा का प्राधान्य था क्योंकि ये दोनों शिव और विष्णु की अर्धांगिनी थी। उधर जैन धर्म में तीर्थंकर जिनकी कोई स्त्री नहीं थी, अतः भक्त जनता के मन को आकृष्ट करने के लिए जैनाचार्यों ने अपने धर्म में यक्षी पूजा का आविष्कार किया और उसे खूब बढ़ावा दिया।

प्राप्त यक्षी मूर्तियों से पता चलता है कि तमिलनाड में यक्षी अम्बिका की सबसे अधिक मान्यता थी। उसके बाद सिद्धायिका का स्थान था, किन्तु पद्मावती की उतनी मान्यता नहीं थी।

जैनाचार्यों में मन्त्रविद्या का भी उत्तरकाल में विशेष प्रचार था, यह बात श्रवणबेलगोला के लेखों से प्रमाणित होती है[१०७]। लेख सं० ६६-६७ में श्रीधर देव और पद्मनन्दि को मन्त्रवादीश्वर कहा है। मल्लिषेण भी मन्त्र-तन्त्रवादी थे। उन्होंने ज्वालिनीकल्प नामक ग्रन्थ की रचना की है। ज्वालिनी तान्त्रिक यक्षिणी है। दक्षिण में उसकी भी विशेष मान्यता थी। मल्लिषेण का समय ग्यारहवीं शताब्दी है। उसने भैरव पद्मावती कल्प नाम का भी ग्रन्थ रचा है। उसमें पद्मावती की सहायता से शक्ति प्राप्त करने के मन्त्र-तन्त्रों का वर्णन है। कर्नाटक में नवमीं शताब्दी में पद्मावती की बहुत मान्यता थी। `पद्मावती देवी लब्धवर प्रसाद` यह उस समय का सम्मान्य विरुद था, जिसे छोटे-मोटे शासक बड़े गौरव से धारण करते थे। उस समय के टीकाकार अनन्तवीर्य ने और वादिराज ने अकलंक कृत न्यायविनिश्चय की टीका में `अन्यथानुपपन्नत्व` रूप हेतु लक्षण को पद्मावती के द्वारा सीमन्धर स्वामी के समवशरण से ला कर पात्रकेसरी स्वामी को देने का उल्लेख किया है। श्रवणबेलगोल की मल्लिषेणप्रशस्ति में भी एक श्लोक इसी आशय का दिया है।

महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावतीसहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्॥

अर्थात उस गुरु पात्रकेसरी की उत्कृष्ट महिमा है जिसकी भक्ति से प्रेरित होकर पद्मावती बौद्धों के त्रिलक्षणवाद का खण्डन करने के लिए सहायक हुई।

१०७- जैन शिलालेख संग्रह, भाग १

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सोमदेव के समय में तथोक्त शासन देवताओं की बड़ी प्रतिष्ठा दक्षिण देश में थी और उन्हें जिनेन्द्र देव के समकक्ष मान कर पूजा जाता था।

शासन देवों की पूजा के सम्बन्ध में सोमदेव ने लिखा है[१०८] कि जो श्रावक तीनों लोकों के द्रष्टा जिनेन्द्रदेव को और व्यन्तरादिक देवताओं को पूजाविधान में समान रूप से मानता है अर्थात् दोनों की समान रूप से पूजा करता है वह नरकगामी होता है।

परमागम में जिनशासन की रक्षा के लिए उन शासन-देवताओं की कल्पना की गयी है। अतः पूजा का एक अंश दे कर सम्यग्दृष्टियों को उनका सम्मान करना चाहिए। जो व्रती सम्यग्दृष्टि जिनशासन में अचल भक्ति रखते हैं उन पर वे व्यन्तरादिक देवता और उनके इन्द्र स्वयं ही प्रसन्न होते हैं तथा रत्नत्रय के धारक मोक्षधाम की प्राप्ति में जो अग्रसर हैं उन के उपसर्गों को हरते हैं।

इतना कह कर सोमदेव ने निष्काम भाव से धर्माचरण की प्रेरणा की है। लिखा है कि सांसारिक वस्तुओं की कामना ले कर धर्माचरण निष्फल होता है। तप करो, मन्त्रों का जाप करो अथवा देवों को नमस्कार करो, किन्तु यदि चित्त में सांसारिक वस्तुओं की चाह है तो वह इस लोक में भी खाली हाथ रहता है और परलोक में भी खाली हाथ रहता है।[१०९]

१०८- देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तरादींश्च देवताः।
समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः॥
ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।
अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः॥
तच्छासनैकभक्तीनां सुदृशां सुव्रतात्मनाम्।
स्वयमेव प्रसीदन्ति ताः पुंसां सपुरन्दराः॥
तद्भावभक्तिकृपाणां रत्नत्रयमहीयसाम्।
उभे कामदुघे स्यातां धावापृथ्वी मनीषिणः॥--उपासकाध्ययन, ६६७-७००

उक्त कथन से ज्ञात होता है कि व्यन्तरादिक देवताओं को जिनशासन की रक्षा के लिए कल्पित किया गया है। इनकी कल्पना का कारण पूर्व में बतलाया है। सम्यग्दृष्टियों से कहा गया है कि वे उनको यज्ञांश दे कर सम्मान करें, नमस्कार या स्तुति आदि के द्वारा नहीं, इसके अधिकारी तो जिनेन्द्र देव ही हैं। किन्तु यतः व्रती सम्यग्दृष्टियों पर वे स्वयं ही प्रसन्न होते हैं। अतः उनके लिए यज्ञांशदान का भी विधान नहीं किया है।

आशाधर ने दार्शनिक श्रावक का कथन करते हुए लिखा है कि आपत्ति से व्याकुल होते हुए भी प्रथम प्रतिमाधारीश्रावक उसको दूर करने के लिए कभी भी शासन-देवता आदि को नहीं भजता।[११०]

सोमदेव ने शासन-देवताओं की चर्चा ध्यान के प्रकरण में की है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तन्त्र मन्त्र के आराधकों के द्वारा शासन-देवताओं की जो आराधना की जाती थी, उसी का निषेध करने के लिए ऐसा किया गया है।

१०९- कुर्यात्सिद्धो जपेन्मन्त्रान्नमस्येद्वा ऽपि देवताः।
सस्पृहं यदि तच्चेतो रिक्तः सोऽमुत्र नेह च ॥-- उपासका०, ७०१

११०- सागारधर्मा०, ७।३ सं० टी०